http://www.jainkosh.org

आप्तमीमांसाप्रवचन १, २ भाग

[प्रथम भाग]

प्रवक्ता :

(अध्यात्मयोगी पूज्य श्री १०५ क्षु० मनोहर जी वर्णी)

अज्ञानतिमिरान्धानां ज्ञानाञ्जनशलाकया,
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः ।

देवागमनभोयानचामरादिविभूतयः
मायाविष्वपि दृश्यन्ते नातस्त्वमसि नो महान् ॥

निश्श्रेयसशास्त्रके अवतरणमें आप्तमीमांसाकी भूमिका—इस ग्रन्थ का नाम आप्तमीमांसा है। श्री समन्तभद्राचार्यने मोक्षशास्त्रकी बहुत बड़ी व्याख्या की है जिसका नाम गंधहस्ति महाभाष्य सुननेमें आता है। और, इस श्लोककी भूमिकामें जो विद्यानन्दस्वामीने बताया है कि ये सब स्तवन निश्श्रेयस शास्त्रकी आदि में मंगलाचरणरूपसे किया गया है। तो निश्श्रेयसके मायने है मोक्ष और निश्श्रेयस शास्त्रका अर्थ हुआ मोक्षशास्त्र। तत्त्वार्थसूत्रका मुख्य नाम मोक्षशास्त्र है क्योंकि उसमें मोक्षके उपायोंका वर्णन है अतएव उसे मोक्षशास्त्र कहते हैं। उस मोक्षशास्त्रकी बहुत बड़ी टीका करनेसे पहिले समन्तभद्राचार्यने मंगलाचरण करना चाहा है। उससे पहिले चूंकि वह श्रद्धा प्रधान और गुणज्ञ महापुरुष थे तो मंगलाचरणके वर्णन करते करते यह आवश्यक समझा कि सम्यग्दर्शन जिस तत्त्व चिन्तनसे होता है उसका उपदेश देने वाले जो प्रभु हैं, जब तक प्रभुकी प्रभुता और निर्दोषता न जान ली जायगी तब तक प्रभुके वचनमें अभ्युपगम्यता व उपादेयता नही आ सकती है। इस कारण मंगलाचरण करनेके प्रसंगमें आप्तकी मीमांसा की गई है। जितने भी जो कुछ शास्त्र हैं वे आप्तसे प्रकट होते हैं। आप्त कहते हैं ऊँचे पहुँचे हुए पुरुषको। जो सर्वोत्कृष्ट पदपर पहुँचा है और धर्म सम्बन्धमें सर्वोत्कृष्ट विकसित हुआ है उसे आप्त कहते हैं। ऐसे आप्तपनेके सम्बन्धमें सभी दार्शनिक अपने अपने इष्ट देवताओंको आप्त कहा करते हैं। अब यह जानना आवश्यक है किसी उपदेशको सुननेसे पहिले कि यह उपदेश

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

किस परम्परासे आया है । और, इस उपदेशके जो मूल स्रोत हैं वे निर्दोष हैं अथवा नहीं ? यदि उपदेशोंका मूल प्रसंग सदोष है तो वहां उपदेश हितकारी नहीं हो सकता इस कारण यह अत्यन्त आवश्यक है कि हम पहिचान जायें कि हमें जो उपदेश प्राप्त हो रहा है उस उपदेशके मूल आधार जो प्रभु वे निर्दोष हैं और गुण विकासमें परिपूर्ण हैं । इस ही बातको सिद्ध करनेके लिये यह आप्तकी मीमांसा चल रही है । प्रभुके गुणातिशयकी परीक्षण, परि समन्तात् ईक्षण निरखन कर रहे हैं पूज्य श्री समन्तभद्र । इससे ही यह सिद्ध होता है कि समन्तभद्राचार्यके श्रद्धाकी विशेषता थी और गुणज्ञताकी उनकी प्रकृति थी । क्योंकि यदि श्रद्धा और गुणज्ञता ये दो प्रयोजन उनके न होते तो इस प्रकारके शास्त्रकी रचना न बन सकती थी महाशास्त्र, मोक्षशास्त्रके अवतारमें प्रथम प्रथम जो स्तुति की गई है उस सम्बन्धमें यह समस्त ग्रन्थ देवागम स्तोत्र इस बातका निर्णय कराता है कि स्तुति करनेके योग्य कौन है जिससे कि सम्यक् उपदेशकी धारा बही हो । नमस्कारके योग्य और आदर्श वही पुरुष माना जाता है जिसके पदचिन्होंपर चलकर भक्त अपना कल्याणलाभ कर सकें, अन्यथा नमस्कारका कोई अर्थ ही नहीं । तो समन्तभद्राचार्य जो आप्तकी यहाँ आलोचना कर रहे, निरीक्षण कर रहे यह सब उनकी श्रद्धाकी प्रवृत्ति और गुणज्ञताकी प्रवृत्तिको प्रमाणित करता है ।

आप्तगुणज्ञ समन्तभद्रका सप्रयोजन आप्तमहत्त्वके निरीक्षणका प्रयास—इसका प्रचलित नाम देवागमस्तोत्र भी है । इसका कारण यह है कि इस रचनामें सर्वप्रथम देवागम शब्द आया है । जैसे कि आदिनाथ स्तोत्रका प्रचलित नाम भक्तामर स्तोत्र है क्योंकि आदिनाथ स्तोत्रमें सर्वप्रथम भक्तामर शब्द आया है, पर विषय इसमें क्या है ? उस दृष्टिसे इसका नाम आप्तमीमांसा युक्तियुक्त विज्ञात होता है । आत्महित चाहने वाले मोक्षमार्गके अभिलाषी पुरुषोंको यह अतीव आवश्यक है कि वे सम्यक् और मिथ्या उपदेशकी पहचान कर सकें । जो पुरुष सच्चे और झूठे उपदेशको पहिचान नहीं कर सकते वे कल्याणमार्गमें चल ही नहीं सकते । तो सम्यक उपदेश और मिथ्या उपदेशकी जानकारी बने, इसके लिए आप्तमीमांसाको रचने वाले आचार्य श्रद्धा और गुणज्ञतासे गद्‌गद् होकर अपने हृदयमें उनके प्रति बड़ी पूज्यताका भाव रखते हैं और उस उल्लासमें यहाँ सर्वप्रथम यह कह बैठते हैं कि हे प्रभो ! तुम इस कारण बड़े नहीं हो कि आपके पास देव आते हैं, आपका आकाशमें गमन होता है । आपपर चामर आदिक विभूतियाँ ढरती हैं । प्रभुके गुणोंसे अन्तः परिचित समन्तभद्र देव सब जान रहे हैं वह मर्म कि प्रभु गुणोंके कारण ही महान हैं । लेकिन प्रायः लोग बाहरी बातोंको देखकर महान समझते हैं तो उसी गुणज्ञताके कारण यह कह रहे हैं कि इन बाहरी बातोंसे तुम हमारे लिए महान नहीं हो क्योंकि ये बाहरी बातें तो मायावी पुरुषोंमें भी देखी जा सकती हैं ।

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

आप्तपृष्टवत् समन्तभद्रका आप्तमहत्त्वके सम्बन्धमें आख्यान—इस रचनाके उद्भवका दूसरा वातावरण यह देखिये कि यह आप्तमीमांसा ग्रन्थ एक महान दार्शनिक ग्रन्थ बन गया है और दार्शनिक क्षेत्रमें सब जीवोंपर करुणाका भाव रखकर कि सभी जीव सत्यतत्त्वके ज्ञानी बनें, उस ढंगसे जब वर्णन करने बैठते हैं तो एक साधारण रूपसे ऐसी घटना सी बना लेते हैं कि मानो बहुतसे दार्शनिक लोग जिसमें समन्तभद्र भी थे, समस्त आप्तोंकी परीक्षा करनेके लिए चले और कल्पनामें लाइये कि आप्त कहने लगें—हम महान हम महान। तो बहुतोंकी तो भेष भूषासे ही प्रभुत्वका निराकरण हो जाता है। कहीं वीतराग सर्वज्ञदेवकी ओरसे किसीने किसीसे कहा अथवा मानो मुद्रासे एक ऐसी बात उठी कि समन्तभद्र, तुम यहां वहां खोजते फिर रहे हो? देखो, आवो शास्त्रके मूल प्रणेता यह हम हैं, यहां ही अपने भाव भरकर कृतज्ञ बनो। तो उस समय समस्त दार्शनिकोंके साथ खड़े हुये समन्तभद्र यह बोलते हैं कि हे प्रभो! तुम महान हो हम यह कैसे समझें? तो कहा गया कि देखो ना, हमारे पास इतने देवता आते हैं। आकाशमें मेरा गमन होता है। छत्रचामर बड़ी विभूतियाँ हमारे निकट हैं। तो इसीसे अंदाज करलो कि यहाँ महता है अथवा नहीं? तो मानो उत्तर में कहा जा रहा है कि प्रभु देवागम, नमोयान, चामरादिक विभूति इनसे मेरे लिये तुम महान नहीं हो। ये सारी विभूतियाँ जैसे भगवानमें पायी जाती हैं इसी प्रकार मायावी अनेक पुरुषोंमें विभूतियाँ देखी जा सकती हैं। कोई देव ऋषि सिद्धि करले जैसे कि मस्करी आदिकमें सुना गया है कि वहाँ तीर्थङ्कर जैसा वैभव, अथवा समवशरण किसी समय दिखाया। तो ये सब बातें मायावियोंमें भी देखी जा सकती हैं इस कारण विभूतियों वाले होनेके कारण भगवान हम जैसे परीक्षाप्रधान पुरुषोंके लिए महान नहीं हो सकते। जो आज्ञाप्रधान पुरुष होते हैं वे भले ही परमेष्ठी परमात्माका चिन्ह इन सब बातोंसे समझलें कि बड़े देव आते हैं, आकाशमें चलते हैं, छत्र चमर ढुलते हैं, इसको भले ही आज्ञाप्रधान लोग परमात्माका चिन्ह मानलें। किन्तु हम जैसे परीक्षाप्रधान लोग उनको परमात्माका चिन्ह नहीं मान सकते हैं क्योंकि ये ये सब बातें मायावी पुरुषोंमें भी हो सकती है।

देवागमादि हेतुकी प्रभुमहत्ता सिद्ध करनेमें विपक्षवृत्तिता—अब इस समय दार्शनिक पद्धति होनेके कारण कोई ऐसा अनुमान बनाता है कि मोक्षमार्गके प्रणेता ये भगवान स्तुतिके योग्य और महान हैं, क्योंकि अन्यथा अर्थात् इतने महान न होते तो देवोंका आना, आकाशमें जाना, चमर आदिक विभूतियोंसे सम्पन्न होना यह बात नहीं बन सकती थी। समाधानमें कहते हैं कि इस अनुमानमें जो हेतु दिया गया है वह हेतु आगम आश्रित है अर्थात् इसमें युक्ति कुछ नहीं है। आगममें भी लिखा है कि भगवानके पास देव आते हैं, उनका आकाशमें गमन होता है, ये सब वर्णन आगम में पाये जाते हैं तो उसका ही आश्रय लेकर यह हेतु दिया है। दार्शनिक पद्धतिमें "आगममें लिखा है" इस बातका महत्त्व नहीं दिया जाता, क्योंकि जहाँ सभी प्रकारके

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

दार्शनिक बैठे हों उस सभामें किसी भी आगमको प्रमाणिक तो नही माना जा सकता, प्रत्येक दार्शनिक अपने-अपने आगमको प्रमाण मानता है। तो आगमके आश्रय हेतु होनेसे हेतुकी प्रतिष्ठा नही होती क्योंकि जो आगमके आश्रित हेतु है उसे प्रतिवादी प्रमाणरूपसे नहीं मान सकता। जैन लो अपने आगमका कोई प्रमाण उपस्थित करें जिसमें अनुमान अवयव न हो तो उसको कोई दूसरा न मानेगा और आगमका प्रमाण न उपस्थित करे, किन्तु कोई दलील देकर साध्य सिद्ध करे, तो वह बात दार्शनिकक्षेत्र में मानी जा सकती है। तो यह हेतु कि चूँकि देव आते हैं, आकाशमें चलते हैं, इस कारण ये भगवान महान हैं, यह हेतु प्रतिष्ठा नही पाता। साथ ही साथ यह हेतु अनेकान्तिक दोषसे दूषित है और यह अनेकान्तिक दोष जिस आगमका आश्रय लेकर हेतु दिया है उस आगमसे ही प्रसिद्ध है। जो हेतु पक्ष, सपक्ष, विपक्ष तीनोंमें रहे अथवा पक्षकी तरह विपक्षमें भी रहे उस हेतुको अनेकान्तिक हेतु कहते हैं। तो जैसे देवागम' आदिक चिन्ह भगवानमें बताये जा रहे हैं इसी प्रकार मायावी पुरुषोंमें भी पाये गए ऐसा भी वातावरण आता है, इस कारण यह हेतु अनेकान्तिक दोषसे दूषित है और इस हेतुसे प्रभु आपकी महत्ता सिद्ध नही हो सकती है।

मायावियोंमें वास्तविक विभूति न होनेके कारण मायावियोंके साथ व्यभिचारके अभावकी शङ्का—कोई कहे कि वास्तविक ढङ्गके देवागम आदिक विभूतियाँ जैसी प्रभुके होती वैसे वैभव मायावियोंमें तो नही पाये जाते क्योंकि माया से दिखाई हुई विभूतिमें और वास्तविक विभूतिमें अन्तर है। तो प्रभु तो वास्तविक विभूतियोंसे युक्त हैं तो परमार्थ विभूतिमत्त्वका मायादर्शित विभूतिमत्त्वके कारण मायोपदर्शित वैभवान मायावियोंके साथ व्यभिचार नही आ सकता है। यदि इस तरह व्यभिचार आने लगे तो कहीं सच्चा धूम दिख रहा है और उससे अग्निकी सिद्धि होती है और कोई स्वप्नमें धूम दिखे तो वहाँ तो अग्नि नही है। तो इस तरहसे तो सच्चे धूमसे भी अग्नि दीखे तो उसे भी मिथ्या कह दिया जायगा। जब स्वप्नमें दीखे हुए धूमसे कहीं अग्नि वहाँ हाजिर नही हो जाती है तो फिर सच्चे दीखे हुए धूमसे भी अग्नि सिद्ध न होना चाहिए। तो जैसे यह भेद कर देते हैं कि वास्तविक धूम हो तो वहाँ अग्नि जरूर है पर मायारूप धूम हो तो वहाँ अग्नि नहीं है तो ऐसे ही यहाँ भेद कर देना चाहिए कि वास्तविक विभूति हो वहाँ महत्ता है और मायासे दिखाई गई विभूति हो तो वहाँ महत्ता नही है। यदि इस तरह न मानोगे तो सभी अनुमानोंमें दोष आ पड़ेगा और फिर कोई अनुमान ठीक रह ही न सकेगा।

उक्त हेतुके अव्यभिचरित होनेकी उक्त आशंकाका समर्थन—शंकाकार की बात सुनकर द्वितीय शंकाकार अथवा शंकाकारका ही समर्थक दूसरा पुरुष बोलता है कि फिर मत हो इस हेतुका व्यभिचार अर्थात् इस श्लोकमें यह कहा गया है कि देव आते हैं आकाशमें गमन होता है, छत्र चामर विभूतियाँ भी महान हैं इस कारणसे

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

प्रभु आप महान हो। प्रभुकी महत्ता सिद्ध करनेमें जो देवागम आदिक हेतु दिए हैं उन हेतुवोंका व्यभिचार नहीं है अर्थात् जैसी वास्तविक विभूतियाँ देवागम आदिक प्रभुकी हैं उसी प्रकार मायावियोंके नही पाई जाती, अतएव यह हेतु व्यभिचारित नहीं है। और, इस ग्रन्थका भी शब्दोंकी दृष्टिसे अर्थ लगाया जाय तो यह अर्थ निकलता है—मायाविष्वपि दृश्यन्ते न, अत: त्वं महान् असि। याने ये विभूतियां मायावियोंमें देखी नहीं जाती इसलिए तुम महान हो। जैसे कोई कहता है कि जावो मत रुको! तो इसका क्या यह अर्थ नहीं लगाया जा सकता कि जावो मत, रुको। तो इसमें न शब्द जो बीचमें पड़ा हुआ है जिसका कि अर्थ यह लगाया था कि ये विभूतियाँ मायावियोंमें भी देखी जाती हैं इस कारण आप महान नहीं हो। तो उस न को यहाँ लगा दिया कि ये विभूतियाँ मायावियोंमें देखी जाती नहीं, इसलिए तुम महान हो तो इस श्लोकसे विरोध भी नहीं होता। और, इस आज्ञाप्रधान भक्तिकी बात समर्थित हो जाती है कि प्रभु इस कारण महान हैं कि देव आते हैं, आकाशमें गमन होता है आदिक कारणोंके।

देवागमादि मायावियोंमें अव्यभिचरित होनेका अनिर्णयरूप समाधान देते हुए प्रकृत बातकी सिद्धि—अब उक्त शंकाके समाधानमें कहते हैं कि इस श्लोकमें कहा गया हेतु विपक्षमें नहीं जाता, यह बात किस आधारपर जानी गई है? बात यह है कि आपके कथनसे भी यह बात ज्ञात होती है कि ये विभूतिया मायावियोंमें भी पाई जाती हैं। इसका ही मतलब है कि विपक्षमें भी उक्त हेतु पाया जाता है। जो प्रभु नहीं है, अप्रभु हैं उनमें भी ये विभूतियाँ पाई जाती हैं। इसलिये विपक्षमें हेतुके पाये जानेसे हेतु सदोष है। अब शंकाकार यह कह रहा है कि हेतु विपक्षमें नहीं जाता अर्थात् वास्तविक देवागम आदिक, ये विपक्षमें नहीं पाये जाते। तो यह बात कही जाती है कि यह हेतु विपक्षमें नहीं पाया जाता यह कैसे जाना जाय। प्रत्यक्षसे तो जान नहीं सकते कि यह वास्तविक विभूति है अथवा नहीं। यद्यपि ऐसा कुछ कहा जा सकता है कि प्रभुके निकट कल्पवासी देव, सम्यग्दृष्टि देव, इन्द्र आदिक देव आते हैं, और उस आधार पर कोई यह कह बैठे कि जिस तरहके सम्यग्दृष्टि देव इन्द्र आया करते हैं उस तरहके देव इन्द्र मायावियोंकी सेवामें नहीं आते। [वहाँ क्षुद्र देव ही आते हैं। लेकिन इसका निर्णय कौन करे कि यह क्षुद्र देवकी रचना है और सम्यग्दृष्टि देवसे सम्बन्धित नहीं है। तो प्रत्यक्षसे नहीं जाना जा सकता कि देवागमादिक वास्तविकी विभूति मायावियोंमें नहीं पायी जाती। और, अनुमानसे भी नहीं जाना जा सकता कि देवागमादिक वास्तविकी विभूति मायावियोंमें नहीं है, क्योंकि प्रत्यक्ष और अनुमान दोनों ही वास्तविक और अबाधित देवागम आदिकके निर्णय करनेका विषय नहीं करते। यदि कहो कि हमने यह सब बात आगमसे जान रखी है तो आगमकी तो प्रमाणता सिद्ध नहीं है। कौन सा आगम प्रमाण है, कौन सा उपदेश वास्तविक है इसीके निर्णयके लिए तो ग्रन्थका आरम्भ हो रहा है। इस आरम्भके समयमें क्या बताया जा

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

सकता है कि वास्तविक उपदेश कौन सा है ? यदि प्रसिद्ध प्रमाण वाले आगमसे इस हेतुकी सिद्धि मान ली जायगी तो आगम तो सभी दार्शनिकोंके अनेक प्रकारके हैं, उनसे निषेध भी हो जायगा क्योंकि अब तो असिद्ध प्रामाण्य आगमको भी मान्यता दे दी गई जो प्रमाणसे सिद्ध हो, जिसकी प्रमाणता सिद्ध हो, जिसकी प्रमाणता प्रमाणसे साबित कर रखी हो उसी आगमसे यदि हेतुकी प्रतिपत्ति मानते हो तो उस ही आगम प्रमाणसे साध्यकी प्रतिपत्ति भी मानो। अनेक परिश्रम करनेसे क्या लाभ ? इस कारण यह बात बिल्कुल उचित कही गई है कि देवागम, नभोयान, चामर आदिक विभूतियाँ इनसे तुम मेरे महान नही हो, क्योंकि ये सब हेतु आगमाश्रित हैं। आगममें यह बात लिखी है इसकी प्रमाणता अन्य लोगोंको प्रतिवादी जनोंको नही बतायी जा सकती। आज्ञाप्रधान ही खुद अपने आप मनमें जो चाहे प्रमाण समझता रहे, पर दार्शनिक क्षेत्रमें, विद्वानोंकी गोष्ठीमें तो जो बात युक्तिसिद्ध हो उसकी ही प्रतिष्ठा हो सकती है। यहाँ तक यह सिद्ध किया कि देवता लोग आते हैं, आकाशमें चलते हैं, निकटपर छत्र चमरकी विभूतियाँ शोभायमान हैं इन बातोंके कारण प्रभु, मेरे लिए तो महान नही हो। तो मानो अब प्रभु ही ऐसा पूछ रहे हों कि फिर हमारे देहका जो अंतरङ्ग और बहिरङ्ग अतिशय है जो अन्यजनोंमें नही पाया जा सकता उस सत्य अतिशयके कारण तो मैं स्तुतिके योग्य हूं और महान हूं। क्यों न समंत भद्र इस तरहके मानो पूछे गए समन्तभद्र उत्तरमें कहते हैं कि—

अध्यातं बहिरप्येष विग्रहादिमहोदयः।
दिव्यः सत्यः दिवौकस्स्वप्यस्ति रागादिमत्सु सः॥२॥

विग्रहादिमहोदयसे शरीरातिशयादिसे भी प्रभुता, महत्ता न होनेका निरूपण—अध्यात्म शरीर आदिकका अतिशय और बहिरङ्ग अतिशय वह यद्यपि दिव्य है, विलक्षण है। सत्य है फिर भी वह रागादिमान देवोंमें तो पाया जाता है इस कारण शरीरके अतिशयसे भी प्रभु, आप महान नही हो। अध्यात्मका अर्थ है जो आत्माको याने अपने आपको अधिश्रित करके वर्तमान हो उसे अध्यात्म कहते हैं। किसी भी वस्तुका अध्यात्म क्या है ? वस्तुस्वरूपके अन्दर जो बात पायी जाती है उसे अध्यात्म कहते हैं। अध्यात्मका अर्थ यहाँ अन्तरंग है। देहका अध्यात्म अतिशय क्या है ? इसका अर्थ है कि देहमें खुदमें ही निजमें अलौकिकता क्या पायी जाती है ? वही है देहादिकका अध्यात्म अतिशय। जैसे कि पसीना न आना मल मूत्र नही होना, प्रभुके देहमें कभी पसीना नही आता, मलमूत्र नहीं होता। तो ये अतिशय सर्व साधारणजनोंमें कहाँ पाये जाते हैं। तो है ना यह प्रभु शरीरका अन्तरंग अतिशय ? यह अतिशय अन्तरंग इस कारण कहलाता है कि यह किसी भी परकी अपेक्षा नही रखता इसके अतिरिक्त कुछ बाहरी अतिशय भी प्रभुके निकट हैं। जैसे गंधोदककी वृष्टि होना, देवों द्वारा पुष्पवृष्टि होना आदिक बहिरंग अतिशय हैं। ये बहिरंग क्यों कह-

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

लाते कि ये देवोंके द्वारा किए जाते हैं। तो प्रभुका अध्यात्म अतिशय तो हुआ देहका परमौदारिक होना, स्फटिक मणिकी तरह स्वच्छ होना। मलमूत्र पसीना आदिकसे रहित होना, छाया भी न पड़ना, आँखोंकी पलकें न झुकना आदिक ये अन्तरंग अतिशय हैं। ये शरीरमें शरीरके ही कारण होते हैं। और, बहिरङ्ग अतिशय हैं। वे जिन्हें देवलोग करते हैं। सुगंधित जल बरषाना, सुगंधित पुष्प बरषाना आदि। ये अन्तरंग और बहिरंग अतिशय पाये तो जाते हैं सकल परमात्माके और वे सही हैं याने वे मायावियोंमें नहीं होते। मायावी पुरुष भले ही किसी कुदेव को सिद्ध करके उस कुदेवके द्वारा कुछ चमत्कार रचा दें लेकिन इससे उनके देहमें यह दिव्यता तो नहीं आ सकती तो ये अन्तरंग बहिरंग अतिशय सत्य हैं। मायावियों में नहीं होते और दिव्य हैं। मनुष्योंके महाराजाओंमें भी नहीं हो सकते। सो इस इस प्रकार ये अतिशय बहिरंग और अन्तरंग शरीरके महान उदय वाला अतिशय मायावियोंमें पूरण मस्वरी आदिकमें नहीं हुए. फिर भी यह हेतु, यह अतिशय व्यभिचारी है अर्थात् प्रभुके अलावा अन्यत्र भी पाये जाते हैं। देवोंका शरीर वैक्रियक होता है। उस वैक्रियक शरीरमें भी भी मलमूत्र पसीना नहीं होता, कोई व्याधि नहीं होती, उसकी छाया भी नहीं पड़ती। उनके भी नेत्र टिकोरे नहीं जाते। तो ऐसे अतिशय उन देवोंके भी पाये जाते हैं, लेकिन वे क्षीणकषाय तो नहीं है, कषायवत हैं, रागादिमान हैं, अतएव वे आप्त भी नहीं हैं ये देवगतिके जीव भी संसारी जीव हैं तो ये अन्तरंग बहिरंग शरीरका अतिशय रागादिमान देवोंमें भी पाया जाता है इस कारण यह भी हेतु व्यभिचारी है।

प्रभुके महत्त्वकी सिद्धिमें विग्रहादिमहोदय हेतुके अव्यभिचरित होने की शंका

अब शंकाकार कहता है कि घातियाकर्मके क्षयसे होने वाला जैसा शरीर का अतिशय भगवानमें पाया जाता है वैसा अतिशय देवोंमें नहीं पाया जाता। यद्यपि देवोंका वैक्रियक शरीर भी मलमूत्र पसीनासे रहित है और अरहंत भगवानका परमौदारिक देह भी मलमूत्र पसीना आदिकसे रहित है। लेकिन साधन तो देखिये कि देवोंका वह शरीर तो भव प्रत्यय है। देवभवमें जानेपर शरीर ही वैक्रियक मिलता है। उसमें कर्म क्षयकी बात नहीं है। लेकिन अरहंत भगवानका परमौदारिक देह घातिया कर्मोंके क्षयसे बनता है। तो घातिया कर्मोंके क्षयसे होने वाला जैसा अतिशय भगवानमें है वैसा अतिशय देवोंमें नहीं पाया जाता इस कारण यह हेतु अनैकान्तिक नहीं हो सकता। और, यह जो श्लोक कहा गया है इस श्लोकमें भी थोड़े अर्थका हेर फेर कर देनेसे कुछ कुछ यह अर्थ भी ध्वनित हो जाता है। जैसे कि ये अन्तरंग बहिरंग शरीरातिशय देवोंमें हैं, पर रागादिमानोंमें नहीं हैं। दो हिस्से कर देनेसे इस श्लोकका भी विरोध नहीं आता है। अतः मान लेना चाहिए कि प्रभु इस शरीरके अतिशयसे महान कहलाते हैं।

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

आगमाश्रित हेतुकी दार्शनिक क्षेत्रमें अप्रतिष्ठा होनेसे हेतुके अव्यभिचरित न होनेका समाधान—अब उक्त शंकाके समाधानमें कहते हैं कि यह शंका करना असंगत है। कारण यह है कि जो कुछ भी तुम बोल रहे हो हेतु, वह आगमाश्रित है। आगममें कोई बात लिखी है इतनेसे प्रमाणता नहीं आ सकती दार्शनिक क्षेत्रमें। आज्ञाप्रधानताके साथ साथ और अनेक युक्तियोंसे सबसे पहिले आगम प्रसंग की प्रमाणता सिद्ध हो ले तो प्रमाणता आगममें बताकर आगमके अनुसार बात मान ली जा सकती है। पर अभी तो आगमकी प्रमाणता ही सिद्ध नहीं हुई है। जब आप्त सिद्ध हो ले तब आगमकी प्रमाणता सिद्ध होगी यानि आगमके मूल प्रणेता जब निर्दोष गुण सम्पन्न सिद्ध हो लें तभी तो आगममें प्रमाणता आयगी। उससे पहिले तो आगम की दुहाई देकर भगवानकी महत्ता नहीं सिद्ध की जा सकती। तो यह हेतु आगमाश्रित होनेसे अहेतु है।

प्रमाण संप्लवका आधार बताकर आगमश्रित हेतुमें हेतुत्वके समर्थन की आशंका—शंकाकार कहता है कि देखो प्रमाण संप्लववादियोंके प्रमाण प्रसिद्ध प्रामाण्य वाले आगमसे साध्यकी सिद्धि मानी गई है। और उस आगममें प्रसिद्ध साधन से उत्पन्न हुए अनुमानसे फिर उसका परिज्ञान करना अविरुद्ध ही है। यह फिर कैसे कहते हो कि आगमके आश्रित जो हेतु है वह हेतु अहेतु कहलाता है। आगममें बताया हुआ हेतु अहेतु कैसे हो जायगा? अन्यथा प्रमाण सम्प्लवका अर्थ ही क्या हुआ? देखो पहिले प्रमाणसे आगममें प्रमाणता सिद्धकी और प्रमाण सिद्ध आगममें बताये गए हेतु से, प्रसिद्ध अनुमानसे वस्तुकी या आगमकी प्रतिपत्तिकी तो आगमाश्रित हेतु विरुद्ध कैसे कहलायेगा? अहेतु कैसे कहलायेगा?

उपयोग विशेषके अभावमें प्रमाण सम्प्लवकी अमान्यताका समाधान—उक्त शंकाके समाधानमें कहते हैं कि यदि उपयोग विशेषका अभाव होता है उससे कोई नई बात नहीं विदित होती है, उसका कोई उपयोग नहीं बनता है, तो प्रमाण सम्प्लव भी अमान्य हो जाता है। किसी एक वस्तुमें अनेक प्रमाण लगाये जावें उसे प्रमाण सम्प्लव कहते हैं। देखो यह बात इस प्रमाणसे सिद्ध है और देखो इससे भी सिद्ध है। यों एक वस्तुमें अनेक प्रमाणका लगाना इसे प्रमाण सम्प्लव कहते हैं। तो देखो आगमकी प्रमाणता प्रसिद्ध की और आगममें लिखा है वह साध्य, फिर हेतुसे साध्यकी सिद्धि की सो आगमके लिखे हुए हेतु भी अहेतु कैसे हो जायेंगे? यह जो शंकाकारने कहा था और उसमें प्रमाण सम्प्लव और आगमकी बात कहकर हेतुको अहेतुत्वसे बचानेका प्रयास किया था, उस सम्बन्धमें यह निर्णय है कि कई प्रमाण देने पर भी यदि उन सब प्रमाणोंका कोई उपयोग विशेष है, दृढ़ता आये, कोई नवीनता ज्ञात हो तो प्रमाण सम्प्लव मान्य है अन्यथा प्रमाण सम्प्लव भी मान्य नहीं है। जानने वालेका उपयोग विशेष बने तो देखो देश आदिक विशेषके अवधारणसे जिसमें

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

देश आदिक विशेष बातोंका समवधान किया गया है। वर्णन किया गया है ऐसे आगमसे जान लिया प्रभुको और फिर वह अनुमानसे भी जानता है तो वह बात ठीक है। आगमसे बताकर फिर अनुमानसे बताया जाय, तो इसमें क्या हुआ कि उनको आगमका कथन दिखाया, उसमें दृढ़ता न थी तो अब अनुमानसे दिखाया। तो बातका निश्चय तो अनुमान द्वारा बना, आगम द्वारा नहीं बना। तो ऐसी जगहमें जहां कि उपयोग विशेष बने प्रमाण सम्प्लव मान लिया जाता है, लेकिन जहाँ ज्ञाताका उपयोग विशेष न होता हो वहां प्रमाण सम्प्लव अमान्य है। जैसे कहीं धूम देखनेसे अग्निका अनुमान किया गया कि यहां अग्नि होनी चाहिए धूम होनेसे। तो साधनसे साध्यका ज्ञान कर लिया, धूम देखकर अग्निका ज्ञान कर लिया। अब इसके बाद आगे चलकर उस धूमको साक्षात् देख लिया तो यहां प्रमाण सम्प्लव तो हुआ याने जिस अग्निको पहिले अनुमानसे जाना था उस अग्निको अब चाक्षुष प्रत्यक्षसे जाना जा रहा है लेकिन यहां उपयोग विशेष तो बना, अब प्रत्यक्ष द्वारा जो अग्निका ज्ञान किया जा रहा है वह दृढ़तम ज्ञान हुआ विशद ज्ञान हुआ। अनुमानका ज्ञान अविसद था क्योंकि अनुमान परोक्षप्रमाण है और अब चाक्षुष प्रत्यक्षसे अग्निका ज्ञान हुआ तो कोई उपयोग विशेष बने तब प्रमाण सम्प्लव मान्य होता है। केवल आगम मात्रसे गम्य साधन और साध्यमें कोई ज्ञान विशेष न बना, उपयोग विशेष न हुआ। कोई बात केवल आगमसे ही बता दी गई तो वहाँ ज्ञान विशेष नहीं होता। तब फिर कुछ निराकरणमें या समर्थनमें यहाँ प्रमाण सम्पलवकी बात क्या ठहर सकती है। हाँ जहाँ उपयोग विशेष हो, परिज्ञान विशेष हो वहाँ प्रमाण सम्प्लव मान्य है जैसे कि अनुमानसे निश्चित की गई अग्निका फिर चाक्षुष प्रत्यक्षसे आँखोंने साक्षात् देखा तो इस ज्ञानमें विशदता है, दृढ़ता है, प्रमाण सम्प्लव दोषके लिए नहीं हुआ।

विग्रहादिमहोदयसे भी प्रभुता व महत्ताके अभावके कथनकी सिद्धि

आगममें हेतु बताया गया है, केवल इस बुनियादपर साध्यको सिद्ध किया जाय तो यह सिद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि आगमकी प्रमाणता अभी प्रमाणसे प्रसिद्ध नहीं है। जब तक प्रमाणसे आगमका प्रामाण्य सिद्ध न हो पा ले तब तक उस आगमके आधारपर किसी भी बातकी सिद्धि नहीं की जा सकती। जैसे कि देवता आते हैं, आकाशमें गमन होता है, चामर आदिक विभूतियाँ प्रभुके निकट हैं ऐसा हेतु देकर जिसका कि वर्णन आगममें किया है उस आगमका उपदेश मात्रका हेतु देकर प्रभुकी महत्ता सिद्ध नहीं की जा सकती है इस ही प्रकार अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग शरीरादिकका अतिशय दिखाकर कि देखो मलमूत्र स्वेद रहित दिव्य शरीर मायावियोंके तो नहीं बन सकता, ऐसे अन्तरङ्ग शरीरका अतिशय दिखाकर भी प्रभुकी महत्ता सिद्ध नहीं की जा सकती, क्योंकि यह भी वर्णन आगमाश्रित है। और, जो आगमाश्रित हेतु है वह दार्शनिकों की दृष्टिमें प्रतिवादीकी दृष्टिमें प्रमाणभूत नहीं है तो अप्रमाण आगमसे,, उसमें बताये गए हेतुसे किसी साध्यकी सिद्धि नहीं की जा सकती। तो यहाँ भगवान परमात्मा

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

अन्तरङ्ग शरीरके अतिशयसे भी स्तवन करनेके योग्य याने महान नही हैं । तो जैसे भगवान ! तुम मेरे लिए देवागम आदिकके कारण पूज्य नहीं हो, महान नहीं हो इसी प्रकार देहके अन्तरङ्ग अतिशयोंके कारण भी आप महान नहीं हो । यद्यपि आपके परमौदारिक दिव्यदेहमें जो अतिशय उत्पन्न हुआ है वह कर्मोदयसे नहीं हुआ, कर्मक्षयसे उत्पन्न हुआ है । यद्यपि नाम कर्म मौजूद है फिर भी जो अतिशय हुआ है उसका कारण है घातिया कर्मका विनाश । तो भले ही हो घातिया कर्मके विनाशसे हुए देहकी ऐसी दिव्यता, और देवोंमें देव, आयु, देवगति, वैक्रियक शरीर आदिक कर्मोंके उदयसे ऐसी दिव्यता हो, फिर भी यह तो परख ही लिया जाता है कि जैसे मलमूत्र स्वेद प्रभुके देहमें नहीं हैं इसी प्रकार देवोंके भी देहमें नहीं हैं तब यह हेतु विपक्षमें चला गया । अतएव अन्तरङ्ग देहातिशयसे भी भगवान तुम हम आप लोगोंके लिए स्तुत्य नहीं हो।

आप्तत्व सिद्धिके प्रसंगमें तृतीय प्रश्नकी भूमिका—अब मानो भगवानकी ओरसे कहे गये दोनों प्रश्नोंका उत्तर समंतभद्राचार्यने दिया । प्रथम तो यह प्रश्न था कि देवता लोग आते हैं और अनेक अतिशय होते हैं इस कारणसे मैं महान हूं । तो समन्तभद्रका उत्तर था कि इन कारणोंसे आप महान नहीं हो । दूसरा प्रश्न था कि हमारा शरीर अध्यात्म अतिशयसे युक्त है, पसीना आदिक दोषोंसे रहित है इसलिए हम महान हैं स्तुति करने योग्य हैं, तो इसका उत्तर दिया कि इस कारण भीमें आप महान नही हो । तो अब मानो भगवानकी ओरसे एक और प्रश्न आ रहा है—तो मै इसलिए महान हूं कि मैंने एक तीर्थ चलाया है । मैं तीर्थकृत् (तीर्थकर) कहलाता हूं । एक धर्म चलानेके कारण, एक सम्प्रदाय बनानेके कारण मैं स्तुति के योग्य हूं और महान हूँ ? इस प्रश्नपर समन्तभद्राचार्य कहते हैं कि —

तीर्थकृत्समयानां च परस्परविरोधतः ।
सर्वेषामाप्तता नास्ति कश्चिदेव भवेद्गुरुः ॥ ३ ॥

तीर्थसम्प्रदाय चलानेके कारण सबमें ही आप्तपनेकी सिद्धिका अभाव—तीर्थकृतोंके समयोंमें सिद्धान्तोंमें परस्पर विरोध होनेसे उन सबके आप्तपना नहीं है, उनमें कोई ही गुरु हो सकता है । तीर्थकर होकर एक तीर्थ चलाया है तो इस तीर्थंकरताके कारण भी हे प्रभो ! तीर्थ चलानेके कारण कोई आप्त तो हो सकता है, हम यह जानते हैं लेकिन तीर्थ चलाने वाले तो अनेक लोग हैं । सबने अपना-अपना धर्म चलाया है, लेकिन उन सब तीर्थकरोंके धर्ममें शासनमें बताये हुए स्वरूपमें परस्पर विरोध है, इस कारण समस्त तीर्थकरोंके आप्तता नही कही जा सकती है । याने जिन जिन महापुरुषोंने तीर्थ चलाया एक एक धर्म सम्प्रदाय चलाया है वे सब आप्त हों यह बात सम्भव नही है । हाँ उनमेंसे कोई ही एक गुरु हो सकता है यहाँ भगवानकी महत्ता सिद्ध करनेमें जो तीर्थकरपनेका साधन कहा गया है सो पहिले तो यही विचार करें कि

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

तीर्थंकरता रूप साधन किस प्रमाणसे सिद्ध है ? प्रत्यक्ष प्रमाणसे तो सिद्ध हो नहीं सकता, क्योंकि प्रत्यक्षका यह विषय नहीं है कि तीर्थंकरताके रहस्यको जान सके, साध्यकी तरह। जैसे कि इसप्रयोगमें यह प्रभु महान है, इस महत्ता की सिद्धि प्रत्यक्षसे नहीं होती है इसी प्रकार तीर्थंकर होनेके कारण महान है, इस तीर्थंकरताकी भी सिद्धि प्रत्यक्षसे नहीं होती, और अनुमानसे भी इस साधनकी सिद्धि नहीं है, क्योंकि साध्यका अविनाभावी लिङ्गका अभाव होनेसे। साध्य है यहाँ महत्त्व। ये प्रभु महान हैं, ये आप्त हैं इस प्रकार महत्त्व साध्यकी सिद्धि कर सकने वाले महत्त्वका अविनाभाव लिङ्ग नहीं है यह तीर्थंकरता। अब शंकाकार कहता है कि यह बात आगमसे तो सिद्ध हो जाती है। आगममें वर्णन है, तीर्थंकर होते हैं, उनके कल्याणक होते हैं, इंद्र उत्सव मनाता हैं, तो आगममें जब तीर्थंकर होनेका वर्णन है तो उससे तीर्थंकरता की सिद्धि तो हो जायगी और तीर्थंकरपना सिद्ध होनेसे महत्ता सिद्ध हो जायगी। उत्तरमें कहते हैं कि आगमसे यदि तीर्थंकरपनेकी सिद्धि मानते हो तो वह तो आगमाश्रय है। उस आगममें प्रमाणता कहाँ है अभी। जो आगमके आश्रय हेतु होता है हेतुकी दार्शनिक क्षेत्रमें प्रतिष्ठा नहीं होती, क्योंकि कोई अपने माने हुए आगमका हेतु दे और उसे दूसरा न माने तो सिद्धि तो न हो सकी। तो आगममें लिखा है कुछ वह प्रमाण देकर किसीको अपना मंतव्य सिद्ध कर सके सो बात नहीं बन सकती है। यह तो केवल श्रद्धालु पुरुषोंके बीचकी बात है। एक ही मतके श्रद्धान करने वाले लोग हैं वे आपसमें भले ही आगमका प्रमाण देकर दूसरेको कुछ समझायें, लेकिन आगमकी प्रमाणताको तो दूसरे लोग, प्रतिवादीजन नहीं मान सकते। तो इस हेतुसे यदि महत्ता सिद्ध करना चाहते हो तो यह हेतु आगमाश्रित है, आगममें लिखा है, केवल इतने मात्रसे सिद्ध किया जा रहा है तो आगमाश्रय होनेसे हेतु अगमक रहा। साध्यको सिद्ध करनेमें समर्थ न रहा।

प्रभुमहत्ताकी सिद्धिमें दिये गये हेतुमें व्यभिचार—तीर्थ सम्प्रदाय चलानेके कारण प्रभु महान है यों प्रभुमहत्ता सिद्ध करनेमें दिये गये हेतुमें व्यभिचार दोष भी आता है। अर्थात् जो हेतु विपक्षमें रहे उसे व्यभिचारी हेतु कहते हैं। यहां साध्य है किसी महानकी आप्ततामहत्ता सिद्ध करना नहीं और हेतु दिया जा रहा है कि वह तीर्थङ्कर है तो तीर्थङ्करपना आप्तपनेको सिद्ध करता। यद्यपि तीर्थङ्करपना इन्द्रादिकमें नहीं मौजूद है इसलिए जैसे कि पहिले दो छन्दोंमें बताया है कि अन्तरंग शारीरिक अतिशय देवोंके भी हैं इस कारण वह हेतु व्यभिचारी है। तो यह तीर्थङ्करपना देवेन्द्रोंमें भी पाया जाता हो और उससे फिर व्यभिचारी कहा जा रहा हो यह बात तो नहीं है लेकिन सुगत कपिल आदिक अनेक ऋषियोंको लोग अपना तीर्थङ्कर कहते हैं। पर उनमें आप्तता तो नहीं है। भक्तजन उन्हें तीर्थङ्करपना तो मानते हैं, पर वे आप्त तो नहीं हैं, क्योंकि उनके सिद्धान्तोंमें परस्पर विरोध है इसलिए तीर्थङ्करपना यह हेतु व्यभिचारी हेतु है। जैसे कि तीर्थङ्करका आगम, तीर्थङ्करपने

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

का उपदेश जैन शासनमें भगवानके माना जाता है उसी प्रकार तीर्थङ्करपनेका शासन, साधन, धर्म सुगत आदिकमें भी माना जाता है। सुगत तीर्थङ्कर हैं, कपिल तीर्थङ्कर हैं आदिक आगम पाये तो जाते हैं। जिन्होंने जो शास्त्र माना है वह उनका आगम कहलाता है। तो जो जो भी किसी आगमको, समयको रच दे वह भी महान आप्त व स्तुत्य हो जायगा। कोई कहे कि हो जावो महान। सुगत भी बड़े हुए, कपिल भी बड़े हुए, जैन तीर्थङ्कर भी बड़े हुए तो हो जायें बड़े इसमें तो कुछ आपत्ति नहीं है। ठीक है, आपत्ति तो कुछ नहीं, लेकिन वे सभी सर्वज्ञ तो नहीं हैं। सर्वज्ञ क्यों नहीं कि उनके बताये हुए उपदेशमें, शासनमें, परस्पर विरोध पाया जाता है। तो परस्पर विरुद्ध समयके बताने वाले होनेसे वे सब सर्वदर्शी तो नहीं हो सकते क्योंकि सब लोगोंके बीच कहकर तो देखो—कोई यदि कहेगा कि सुगत सर्वज्ञ है तो दूसरा यह भी कहेगा कि कपिल सर्वज्ञ क्यों नहीं है ? इसमें क्या प्रमाण है कि सुगत सर्वज्ञ हो और कपिल सर्वज्ञ न हो ? यदि कहो कि दोनों ही सर्वज्ञ हो जायेंगे तो फिर दोनोंमें मतभेद क्यों ? यदि सर्वज्ञ दोनों हैं तो सर्वज्ञताके नातेसे दोनोंका कथन एकसा होना चाहिए। जिन्होंने सबको जान लिया वे जो उपदेश करेंगे तो जितने भी सर्वज्ञ होंगे। जिन्होंने सबको जान लिया उन सबका उपदेश एक समान होगा। यदि वे दोनों ही सर्वज्ञ मान लिये जाते हैं तो यह बतलावो कि उन दोनोंमें मतभेद कैसे हो गया ? तो इस तरह यह हेतु व्यभिचारी है, अनैकान्तिक है। तीर्थंकर होनेसे कोई आप्त हो जाता है, महान हो जाता है यह बात सिद्ध न हो सकी। तीर्थङ्करका अर्थ है जो तीर्थको चलाये, धर्मको चलाये। धर्मका चलाने वाले पचासों लोग हैं तो वे सभी आप्त तो नहीं हो सकते। और, मान लो कि सब आप्त हैं तब फिर उनके वचनोंमें परस्पर विरोध क्यों रहा ? इससे तीर्थङ्करत्व नामका हेतु अनैकान्तिक दोषसे दूषित है, अतः मात्र तीर्थङ्करत्व हेतु किसीके भी महत्वको सिद्ध नहीं करता। तब फिर बतलावो कि फिर कोई तीर्थङ्करताके नातेसे गुरु महान हो जायगा क्या ? नहीं हो सकता।

श्रुतिसम्प्रदायोंमें भी परस्पर विरोध होनेसे गुरुत्वका अभाव—अब मौका देखकर सर्वज्ञ न मानने वाले लोग (मीमांसक) यहाँ अपना मंतव्य समर्थित करते हैं कि वाह–वाह, आप ठीक ही कह रहे हो। तीर्थङ्कर होनेके कारण कोई आप्त नहीं हो सकता है, कोई सर्वज्ञ नहीं हो सकता है, महान् नहीं हो सकता इसीलिए तो हम बार–बार कहते जा रहे हैं कि दुनियामें कोई पुरुष सर्वज्ञ है ही नहीं। कोई सर्वज्ञके नाते स्तुतिके योग्य नहीं हैं क्योंकि क्या जरूरत हैं सर्वज्ञकी मान्यताकी? हो भी नहीं सकता कोई सर्वज्ञ और सर्वज्ञकी मान्यताकी कुछ आवश्यकता भी नहीं है। कारण यह है कि जो कल्याणके चाहने वाले पुरुष हैं उनके कल्याणका साधन वेदसे ही हो जायगा श्रुतिसे ही हो जायगा, यज्ञोंसे ही हो जायगा। और, ऐसा उपदेश प्रसिद्ध है कि कल्याण चाहने वालेका कल्याण उपदेश

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

श्रुतिसे हो जाता है। इस कारण सर्वज्ञको न मानने वाले मीमांसक लोग (इस समय अवसर पाकर) सर्वज्ञताके निराकरणका साहस कर रहे हैं, लेकिन सर्वज्ञताके निराकरणका साहस समीचीन नहीं है। उनके प्रति भी यही श्लोक उनके मंतव्यका खंडन कर देता है। अर्थ यह है कि सर्वज्ञ न मानने वाले लोगोंके आगमका नाम भी तीर्थकृत् समय है। यद्यपि वहाँ तीर्थंकर नहीं माना किसीने लेकिन तीर्थकृत्का अर्थ यह भी है कि तीर्थं कृन्तति छिन्दति इति तीर्थकृत् जो तीर्थको छेद देवे उसे तीर्थकृत् कहते हैं। और तीर्थकृत्का, असर्वज्ञवादीका जो समय है उसे कहते हैं तीर्थकृत्समय अर्थात् मीमांसकोंका आगम। उस तीर्थकृत्समयमें परस्पर विरोध पाया जा रहा है। क्या वह तीर्थकृत्समय अर्थात् तीर्थका विनाश करने वाला सम्प्रदाय, वेदको ही मानने वाले अनेक सम्प्रदाय, वे परस्परमें झगड़ते नहीं हैं। कोई कहते कि इस श्रुतिवाक्य का अर्थ भावना नहीं है, इसका अर्थ नियोग है। कोई कहते कि इसका अर्थ नियोग नही है, भावना है। यों वे ही खुद परस्परमें अपने मंतव्यका विरोध रखते हैं। तो जब उनमें परस्पर विरोध है तो किसी भी सम्प्रदायकी सम्वादकता नहीं रहती है। जब किसी भी श्रुतिसम्प्रदायकी संवादकता न रही फिर बताओ कि वहाँ कोई सम्प्रदाय महान् हो सकता है? कोई सा भी व्याख्यान उनका कोई सा भी सम्प्रदाय प्रमाणिक नहीं हो सकता। इस कारण जो मौका देखकर यह कह बैठे कि ठीक है, सर्वज्ञ कोई नही है उनका ही मंतव्य इस ही श्लोकसे निराकृत हो जाता है, अर्थात् तीर्थ विच्छेद करने वाले उन सम्प्रदायोंमें भी परस्पर विरोध है, और परस्पर विरोध होनेके कारण उनमें सम्वादकता नही है, इसलिये श्रुतिके मानने वालोंमेंसे क्या कोई गुरु, महान् हो सकता है, वहां भी किसीको भी गुरु, सम्वादक नही कह सकते हैं।

श्रुतिवाक्यार्थमें भट्ट व प्रभाकरका परस्पर विरोध—इस प्रकरणमें जब कि यह कहा जा रहा है कि तीर्थ चलाने वाले तीर्थकृत्के समय परस्पर विरोध सहित हैं इस कारणसे उनमें सबके आप्तपना नहीं बन सकता। अर्थात् उन सिद्धान्तोंके प्रणेता सर्वज्ञ नहीं हो सकते। क्योंकि एक दूसरेके साथ उन कथनोंका विरोध है। फिर कौन गुरु कहलाये? इस अवसरसे मीमांसक यह लाभ उठा रहे हैं और कह रहे हैं कि यदि उन तीर्थकृतोंके समय सिद्धान्त परस्पर विरुद्ध हैं और उनके प्रणेताको सर्वज्ञ आप्त नही कहा जा सकता हो यह बात ठीक है। न आप्त प्रमाण है न आप्तके द्वारा बताये गए शास्त्र प्रमाण हैं न उनका फैलाया गया धर्म प्रमाण है, किन्तु प्रमाण तो अपौरुषेय श्रुति ही है। उसमें प्रमाणताका सन्देह नही है। और जितने पौरुषेय सिद्धान्त होंगे उनमें अप्रमाणता है, ऐसा कहने वाले मीमांसकोंके प्रति कहा जा रहा है कि यह भी कथन ठीक नहीं। वे मीमांसक तीर्थङ्कर सम्प्रदायमें तो नही मगर तीर्थकृत् सम्प्रदायमें हैं। तीर्थकृत्का अर्थ है जो तीर्थका विनाश करें उनमें सम्प्रदायोंमें भी परस्पर विरोध है। किस प्रकार विरोध है सो सुनो। श्रुतिमें कोई वाक्य कहा गया, उस वाक्यके अर्थके सम्बन्धमें भट्ट और प्रभाकर इन दोनोंका पर-

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

स्पर विरुद्ध मंतव्य है। भट्टके सिद्धान्तसे वाक्यका अर्थ भावनारूप है। और प्रभाकर के सिद्धान्तसे वाक्यका अर्थ नियोगरूप है। तो उनमेंसे कोई कहे कि भावना ही वाक्यका अर्थ है तो यह प्रश्न किया जा सकता कि नियोग वाक्यका अर्थ नहीं है, इसमें क्या प्रमाण है? और, यदि वे दोनों ही वाक्यके अर्थ होते हैं तो इसमें न भट्ट का आग्रह रहा न प्रभाकरका आग्रह रहा और इस प्रसंगसे इन दोनोंके सिद्धान्त नष्ट हो गए।

वाक्यार्थमें भट्ट व वेदान्तीका परस्पर विरोध—जैसे कि भट्ट श्रुतिवाक्य का कार्यरूप अर्थ मानते हैं और वेदान्तवादी स्वरूपार्थक अर्थ मानते हैं तो पूछा जाय कि वाक्यका अर्थ यदि कार्यरूप है, वाक्यार्थका ज्ञान यदि कार्यरूप है तो वाक्यार्थका ज्ञान स्वरूपमें नही जाता इसमें क्या प्रमाण है, भट्टजन तो कार्यको प्रमाण मानते हैं और श्रुति वाक्यमें लिखा है वह शब्द कार्यत्व शक्तिको साथ लिए हुए हैं उनमें कार्यपना छिपा हुआ है और वेदान्तवादीके सिद्धान्तसे उन सब वाक्योंका स्वरूपार्थक अर्थ निकलता है अथवा शब्दसे एक ब्रह्मस्वरूपका अर्थ निकलता है तो इन दोनोंके सम्बन्धमें यदि कहा जाय कि वाक्यज्ञान कार्य अर्थमें है तो स्वरूपार्थमें वाक्य ज्ञान नही है इसमें क्या प्रमाण है? और यदि दृष्टि भेदसे अपेक्षा लगाकर दोनों अर्थ मान लिये जायें जैसे कि कार्यसे युक्त उनका अर्थ है तो जब कार्ययुक्त उत्पत्ति वाले बोध हैं तब तो कार्य विषयक रूपसे वाक्यकी प्रमाणता है और जब स्वरूपकी व्युत्पत्ति कराने वाला बोध हो तब वाक्यका स्वरूप विषयक रूपसे प्रामाण्य है, इस तरह अपेक्षावादका (स्याद्वादका) आश्रय लेकर यदि दोनोंकी प्रमाणता मान ली जाय तो उन दोनोंके एकान्तपक्ष तो नष्ट हो गए। अब वहां न भट्टका पक्ष रहा न वेदान्तवादी का। बस प्रसंगमें यह समझना चाहिए कि श्रुतिके मानने वाले वे तीनों हैं। भट्ट प्रभाकर वेदान्तवादी भट्ट तो श्रुति वाक्यका अर्थ कार्यरूप निकालते हैं और प्रभाकर नियोगरूप अर्थ निकालते और वेदान्तवादी स्वरूपमात्र अर्थ निकालते हैं। तो इस प्रकार इन मीमांसकोंके अर्थात् सर्वज्ञके निषेधकोंके, जो समुदाय हैं उनमें परस्पर विरोध है इस कारण इन सभी सम्प्रदायोंको सम्वादक नहीं कहा जा सकता। सत्यार्थ के स्थापक नहीं बताया जा सकता। फिर यहां भी गुरु कौन रहा?

भट्ट द्वारा अनेक नियोगार्थोंका विरोध बताकर भावनारूप वाक्यार्थका समर्थन—अब यहाँ भट्ट शंका करता है कि वाक्यका अर्थ भावना है, यह सम्प्रदाय ही समीचीन माननेके योग्य है, क्योंकि नियोग अर्थमें बाधकका सद्भाव है। जैसे नियोग का मतलब क्या? मैं इस अग्निस्टोम यागसे नियुक्त हूँ। अग्निस्टोमका अर्थ किसी प्रकारका यज्ञ है। अग्निस्टोम इत्यादिक वाक्यसे जो समस्त रूपसे योग है उसका नाम नियोग है। लेकिन इस वाक्यमें यह भाव रंचमात्र भी सम्भव नही है, क्योंकि नियोग के अर्थ अनेक बताये गये हैं। उन अर्थोंपर विचार करें तो नियोगका अर्थ ही सुद्ध नहीं

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

बैठता है। नियोगके अनेक अर्थ व्याख्यान करने वाले पुरुषोंके मतभेदसे हुए हैं।

शुद्ध कार्यरूप नियोगका आख्यान—जैसे किन्हींका सिद्धान्त है कि लिङ् प्रत्ययका अर्थरूप शुद्ध अन्य निरपेक्ष कार्यमात्र ही नियोग होता है। धातुरूपकी सिद्धि में लट लूट आदिक अनेक लकार बताये गए हैं। उनमें विधिलिङ भी एक प्रकार है, जिसका अर्थ एक शुद्ध कार्यरूप होता है। जैसे वह जावे, यह एक विधिरूपसे प्रयोग है। इसमें प्रेरणा नहीं दी गई है, इसमें एक शुद्ध कार्यकी झलक आई है। जिस वाक्य से प्रत्ययका अर्थभूत नियोग शुद्ध प्रतीत हुआ उस हीको तो शुद्ध कार्य कहते हैं। इसी कारणसे तो वह लिङ् प्रत्ययरूप कार्य शुद्ध कहलाता है। उसे जाना चाहिए, वह जाये आदिक शब्द एक शुद्ध कार्यरूप है। जिसमें आज्ञा प्रेरणा अथवा उस कार्यको वह करे ही, ऐसी कोई बात शामिल नहीं है। तो ऐसा जो शुद्ध अन्य निरपेक्ष कार्यरूप भाव है उसको नियोग कहते हैं। जब कभी उसका कोई विशेषण भी कुछ और प्रतीत होता है, उस क्रियाके साथ कोई विशेषण लगा हुआ है और अन्य अर्थ प्रतीत होता है तो वह प्रत्ययका अर्थ नहीं है। उस वाक्यमें जो प्रेरकत्व विशेषण बन जाता है वह प्रत्यय द्वारा वाच्य नहीं है, किन्तु वह एक पृथक शब्दकी धुनि है। इस कारण शुद्ध कार्यको ही नियोग कहते हैं, ऐसा कोई पक्का नियोगका अर्थ करता है। इस समय शंकाकार भट्ट जो कि मीमांसकका एक सम्प्रदाय है, वह मीमांसक उस अन्य सम्प्रदायके, जो कि नियोगवादी है उसके मंतव्यका निराकरण कर रहा है कि श्रुतिवाक्योंका अर्थ भावना रूप है, नियोगरूप नहीं है।

शुद्ध प्रेरणारूप नियोगका आख्यान—कोई प्रवक्ता नियोगका यह अर्थ करता है कि जो शुद्ध प्रेरणा हो उसे नियोग कहते हैं। शुद्ध प्रेरणा ही नियोग है। यही उन समस्त श्रुतिवाक्योंसे जाना जा रहा है क्योंकि जब तक कि कोई पुरुष प्रेरित नहीं होता, तब तक वह अपनेको नियुक्त नहीं मान सकता है। जैसे वाक्य बोला गया कि स्वर्गकामो यजेत अर्थात् स्वर्गकी इच्छा करने वाला पुरुष यज्ञ करे। अब इस वाक्यमें पहिले नियोगवादी तो यह कह रहा था कि विधिलिङ्का इसमें प्रयोग है अतएव प्रेरणारहित अन्य निरपेक्ष शुद्ध कार्यकी ही इसमें ध्वनि है। और, दूसरा नियोगवादी यह कह रहा है कि इसमें प्रेरणा पड़ी हुई है कि जो स्वार्थोंकी कामना करता है उसको यज्ञ करना ही पड़ेगा। एक प्रेरणारूप अर्थकी ध्वनि मानी है। और इस प्रसङ्ग में भावनावादी भट्टका यह सिद्धान्त सिद्धान्त है कि स्वर्ग पानेका इष्ट साधन यह है इतना ही इससे भाव लेना है। तब वेदान्तवादी यह कहता है कि क्या स्वर्ग और स्वर्गकी कामना करने वाला और क्या यज्ञ, ये सब एक ब्रह्मस्वरूपकी पर्यायें हैं और, इन वाक्योंसे एक ब्रह्मस्वरूपपर ही दृष्टि देना है। इन सब वाक्योंका स्वरूपार्थ है। प्रकरण नियोगवादियोंका चल रहा है। भावनावादी भट्ट नियोगवादियोंके नियोगका निराकरण यों कर रहा है कि नियोगका अर्थ कोई एक व्यवस्थित नहीं है। द्वितीय

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

नियोगवादी यह कहता है कि इन सब वाक्योंका अर्थ शुद्ध प्रेरणा है, याने एक कार्य पर दृष्टि सम्बन्ध बनानेका भाव है नहीं, इस विकल्पसे परे जो एक प्रेरणामात्र भाव है वही नियोगका अर्थ है।

प्रेरणासहित कार्यरूप तथा कार्यसहित प्रेरणारूप नियोगका आख्यान तीसरा नियोगवादी प्रवक्ता कहता है कि प्रेरणासहित कार्यको नियोग कहते हैं। मेरा यह कार्य है, ऐसा कार्य है, यह बात जब पहिले ज्ञात हो जाय तब वह अपनी सिद्धिमें प्रेरक हो सकता है, अन्यथा नहीं हो सकता। तो इससे यह सिद्ध हुआ कि कार्यमें प्रेरणा देनेमें तत्पर है यह वाक्य ज्ञान। मेरा यह कार्य है ऐसा जानकर उस कार्यकी सिद्धिमें प्रेरणा पाता है वह। इससे सिद्ध है कि नियोगका अर्थ प्रेरणासहित कार्य है न कि शुद्ध कार्य अथवा शुद्ध प्रेरणा। उसमें प्रथम नियोगवादीका भाव यह था कि केवल कार्य कार्मका नाम नियोग है, उसमें प्रेरणाका कोई सम्बन्ध नही। दूसरा नियोगवादी यह कहता कि इसमें प्रेरणाका भाव है, कार्यकी और इसकी दृष्टि नही तो तीसरा नियोगवादी कहता कि प्रेरणासहित कार्यका नाम नियोग है। तब चौथा नियोगवादी कहता कि कार्यसहित प्रेरणाका नाम नियोग है, क्योंकि कार्यके बिना कभी भी पुरुष प्रेरित नही होता, इस कारण कार्य संगत प्रेरणाका नाम नियोग है।

कार्यप्रवर्तकत्वरूप नियोगका आख्यान—५ वाँ प्रवक्ता यह अर्थ लगाता है कि कार्यके प्रवर्तकपनेका ही नाम नियोग है। इसके सिद्धान्तमें न केवल कार्यका नाम नियोग है न केवल प्रेरणाका नाम नियोग है, न प्रेरणासहित कार्यका नाम नियोग है किन्तु कार्यकी प्रवर्तकताका नाम नियोग है। अर्थात् प्रेरणाका विषयभूतकार्य कार्य है, वह कार्य स्वत: प्रेरक नहीं होता। किन्तु प्रमाणका जो व्यापार है, जो प्रमेय है वही प्रवर्तक होता है, इस कारण कार्यके प्रवर्तकपनेका ही नाम नियोग है। अपूर्व अपूर्व कार्यका सम्बन्धपना होनेसे तत्त्ववृत्तिसे वे सब शब्द प्रमाणमें पड़े हुए हैं। और वही प्रमेय हैं, उपचारसे आरोपित होकर ज्ञानमें प्रत्यक्षरूपसे आये हैं, तो वही विषय बन गया है। उस ही कार्यको, उस ही प्रमेयको यह ही प्रवर्तक है, स्वर्गकी इच्छा करने वालेका यह प्रमेय प्रवृत्ति करा रहा है इस कारणसे उस कार्यमें ही प्रवर्तकपना होनेका नाम नियोग है।

कार्यप्रेरणासम्बन्धरूप तथाकार्यप्रेरणा समुदायरूप नियोगका आख्यान—छठा व्याख्याता नियोगका यह अर्थ कर रहा है कि कार्य और प्रेरणा इनके सम्बंधका नाम नियोग है, इसका तात्पर्य यह है कि जैसे एक वद वाक्य है कि स्वर्गका अभिलाषी यज्ञ करे। ऐसे कथनमें किसीकी दृष्टिमें तो यह आया कि इस वाक्यमें प्रेरणा की धुन भरी हुई है। जैसे कोई किसी कार्यके लिए प्रेरित करता है इसी प्रकार इस वाक्यने भी लोगोंको यज्ञ कार्यकी प्रवृत्तिके लिए प्रेरित किया तो किन्हींका यह मंतव्य बना कि इसमें कार्यकी मुख्यता है। किन्हींका मन्तव्य बना प्रेरणाकी मुख्यता किन्हीं

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

की दृष्टिमें कार्य सहित प्रेरणा, किन्हींकी दृष्टिमें प्रेरणासहित कार्य, इत्यादि अनेकरूपसे नियोगके अर्थ हो रहे इस वाक्यके कि जो स्वर्ग चाहता है वह यज्ञ कार्य करे। यहाँ छठा प्रवक्ता यह कह रहा हैं कि प्रेरणा और कार्य इनका जो सम्बन्ध है वह नियोग है और यही अर्थ इस वाक्यसे निकल रहा है। ७ वाँ प्रवक्ता यह कहता है कि प्रेरणा और कार्य, इनका जो सम्बन्ध है उसका नाम नियोग है। ये दोनों परस्पर अविनाभूत हैं। प्रेरणाके बिना कार्य नहीं होता, कार्यके बिना, प्रयोजनके बिना चित्तमें कार्य आये बिना प्रेरणा नहीं बनती है। तो नियोगका अर्थ प्रेरणा और कार्य इनका समुदाय है। दोनोंके दोनों पूरे रूपसे समुदित हों इसका नाम नियोग है। जैसे कि छुटपुट इकहरे इकहरे शास्त्र लिए हुए बहुतसे लोग हों तो केवल ऐसे खण्ड शास्त्र, विकल शास्त्र धारण करने वाले अलग–अलग रहें तो उससे जय नहीं होती है, किन्तु वे सब शास्त्री समुदित हो जायें और फिर युद्धकार्य करें तो उनकी जय होती है। तो यह प्रभाव समुदायमें होता है। इस प्रकार प्रेरणा ही प्रेरणामात्र भाव रहे कार्यका वहाँ कुछ भी सम्बन्ध नहीं अथवा कार्य–कार्य ही दृष्टिमें है प्रेरणाका उसमें अन्वय नहीं तो वहाँ कार्य सिद्ध न होगा। अतः कार्य और प्रेरणा इन दोनोंके समुदायका नाम नियोग है।

कार्यप्रेरणोभयस्वभावविकल तथा यंत्रारूढरूप नियोगका आख्यान—

८ वाँ प्रवक्ता यह कहता है कि कार्य और प्रेरणा दोनों स्वभावसे रहित होना नियोग का अर्थ है क्योंकि सब कुछ ब्रह्मगत होनेसे सब सिद्ध ही है और सिद्ध होने कारण वहाँ न कोई कार्य है न कोई प्रेरक है अतएव कार्य और प्रेरणा दोनों स्वभावसे रहित नियोग होता है, ब्रह्म आत्मा ही नियोग कहलाता है। जैसे घट इसका अर्थ न कार्य है और घट इस वचनका अर्थ न प्रेरणा है। इस प्रकार कुछ भी वाक्य कहा गया उसका अर्थ एक ब्रह्मस्वरूप ही है। ब्रह्मकी एक अवस्था विशेष ही उस वेदवाक्यसे प्रतीत हुई है, क्योंकि वाक्य भी अखण्ड ही होता है और वाक्यार्थ भी अखण्ड ही होता है। जैसे कि वाक्य खण्ड–खण्ड रूपमें अलग–अलग पदोंमें बोल दिया जाय तो वह वाक्य तो नही कहलाता। जैसे कहा कि स्वर्गकी इच्छा करने वाला यज्ञ करे, तो इसमें एक पद ही बोला, वाक्य तो नही बना, वाक्य एक अखण्ड होता है। तो अखण्ड एक वाक्यका अर्थ भी एक अखण्ड ही होता है। ऐसा एक अखण्ड है ब्रह्म स्वरूप। वह कार्य प्रेरणा दोनोंके स्वभावसे रहित जो तत्त्व है उसका नाम नियोग है। तब ९ वाँ प्रवक्ता यह कहता है कि यंत्रपर आरूढ़ होनेका नाम नियोग है, अथवा यंत्रारूढ़की तरह जो जट-पटाकर जिज्ञासायें रखकर कामना रखकर प्रवृत्तियां करे ऐसा यंत्रारूढ़की तरह कार्य में जुटनेका नाम नियोग है। जो पुरुष जिस विषयमें कामी होता है, अभिलाषावान होता है वह नियोग होनेपर इस ही तरह अपने आप विषयारूढ़ मानता हुआ प्रवृत्ति करता है। जैसे किसी कार्यकी अधिक चाह वाला पुरुष कार्यमें एक तन्मय होकर लग जाता है, लगना पड़ता है, विवश हो जाता है। जैसे कि कोई यंत्रपर आरूढ़ हो तो उसे चलना ही पड़ता है, यों ही यंत्रारूढ़की तरह कार्यमें जुटनेका नाम नियोग है।

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

भोग्यरूप व पुरुषरूप नियोगका आख्यान—एक नियोग प्रवक्ता श्रुति वाक्यका यह अर्थ निकालता है कि उसमें जो भोग्यरूप भाव है उसे नियोग कहते हैं मेरा यह भोग्य है इस प्रकार जो भोग्यरूप प्रतीत होता है और उसमें ममत्वरूपसे जो विज्ञान बना है कि यह भोग्य मेरा है, इस प्रकारका यह ममत्वरूपसे विज्ञान भोक्ता पुरुषमें ही तो व्यवस्थित है। वहाँ स्वामित्वरूपसे फलमें जो स्वर्गप्राप्ति होगी वह भोग्य है। अब मेरा यह भोग्य है, जहाँपर यह अभिप्राय भोक्ताके होता है जिस विषयमें वही तो भोग्य जानना चाहिए। इस प्रकार कोई प्रवक्ता भोग्यरूप नियोगका अर्थ करते हैं। यहाँ जिस कारण साध्यरूपसे स्व ही जाना गया है। मेरा यह भोग्य है ऐसा जाना गया तो वहाँ साध्यरूपसे क्या निर्दिष्ट हुआ ? स्व भोग्य अर्थात् मुझको ही उस भोग्यका स्वामी बनना है इस नियोगमें स्वका व्यपदेश हुआ। जो सिद्धरूप भोग है, वह नियोग नहीं होता, क्योंकि वह सिद्ध ही हो गया है। साध्यरूपसे भोग्य की प्रेरकता होनेसे नियोग बनता है। जो सिद्ध है वह नियोग नहीं, किन्तु जो भोग्य-रूप है, भोग्यरूपसे साध्य है इस तरहकी जो भोग्य प्रेरकता है इस तरहका यह भोग्य रूप नियोग है। एक नियोगवादी श्रुति वाक्यार्थका यह अर्थ करता है कि पुरुष ही नियोग है। मेरा यह कार्य है इस प्रकार यह पुरुष ही तो मानता है तो पुरुषमें ही कार्य विशिष्टता आयी। कार्यसे विशिष्ट कौन बनेगा ? पुरुष ही। और, इसकी वाच्यता नियोग है। कार्य सिद्ध हो जानेपर उस कार्यसे उस सिद्धिसे युक्त पुरुष साधित कहलाता है। तो आखिर उस वाक्यका अर्थ क्या हुआ ? वही पुरुष। भोग्य रूप कार्यकी सिद्धि कर चुकने वाला यह पुरुष ही तो है। तो श्रुति वाक्यका अर्थ सर्वत्र वही पुरुष प्रमाण, आत्मा ही है।

नियोगवादके निराकरणमें ८ विकल्प व उनमेंसे प्रथमविकल्पका निराकरण—भट्ट यहां यह बात रख रहे हैं कि नियोगवादियोंका जो यह ११ प्रकार का अर्थ है यह सो यह ११ प्रकारका भी नियोग विचार किया जानेपर बाधित हो जाता है, क्योंकि उस नियोगके सम्बन्धमें प्रमाण आदिक ८ विकल्प पृष्टव्य हैं। क्या नियोग प्रमाणरूप है अथवा नियोग प्रमेयरूप है ? या प्रमाण और प्रमेय दोनों रूप है ? अथवा वह नियोग प्रमाण और प्रमेय दोनोंसे रहित है ? अथवा वह नियोग शब्द व्यापाररूप है या पुरुषके व्यापाररूप है ? अथवा शब्द और पुरुष दोनोंके व्यापाररूप है ? या दोनोंके व्यापारसे रहित है ? इन ८ प्रकारके विकल्पोंमें यदि प्रथम पक्ष मानते हो कि वह ११ भेद वाला याने समस्त नियोग प्रमाणरूप है तो इसका अर्थ यह हुआ कि इस श्रुतिवाक्यका विधि ही अर्थ है क्योंकि प्रमाण विधिरूप होता है ? तब वेदान्तवादका प्रवेश प्रभाकरके मंतव्यमें आ गया। प्रभाकर श्रुति वाक्यका नियोग अर्थ केवल ब्रह्मस्वरूप करता है। वह ब्रह्मस्वरूप चिदात्मक है, प्रमेयरूप है, प्रतिभासरूप है। तो जब यहां ११ प्रकारके समस्त नियोगोंको ही प्रमाणरूप मान लिया गया, किसी भी प्रवक्ताका कुछ भी नियोग है,

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

उन सभीके बारेमें ८ विकल्प पूछे गए थे। उनमेंसे नियोगको प्रमाणरूप माना गया तो प्रमाण होती विधि, विधि ही वाक्यका अर्थ है और वह है ब्रह्मरूप। सो अब नियोगवाद न रहा, वेदान्तवाद हो गया। क्योंकि प्रभाकरका नियोग हो गया अब प्रमाणरूप प्रमाण है चैतन्यात्मक और चैतन्यात्मा है प्रतिभासमात्र और प्रतिभासमात्र है परब्रह्मरूप। प्रतिभासमात्रसे पृथक कोई विधि कार्यरूपसे प्रतीयमान नहीं होता. क्योंकि समस्त नियोग यहा प्रमाणरूप मान लिए गए हैं। जैसे घट पट आदिक पदार्थ जो सब प्रमाणरूप है, ब्रह्मस्वरूप है उस प्रतिभासमात्रसे प्रथक घट आदिक प्रतीयमान नहीं होते। सब कुछ प्रतिभास स्वरूप है, ब्रह्मरूप है। इस प्रकार नियोग प्रमाणरूप है। तो फिर वह प्रेरकरूपसे भी अनुभवमें नहीं आ सकता। जैसे वचन वचन है वे प्रेरक क्या हो सकते हैं? निश्चयसे कर्मसाधन और करणसाधनरूपसे वाक्यार्थकी प्रतीति होनेपर कार्यकी प्रेरकताका ज्ञान बनता है, अन्यथा नहीं बनता। तो इन ११ प्रकारके नियोगोंको प्रमाणरूप मान लेनेसे अर्थ निकला विधिरूप, ब्रह्मवादरूप। वह कैसे? सो सुनो. जब श्रुतिवाक्यमें यह शब्द सुना द्रष्टव्योऽयमात्मा श्रोतव्यो निदिध्यासितव्य: आदिक तो शब्दके श्रवणसे सुननें वालेके चित्तमें यह एक प्रेरणा जगी कि इसमें जो यह कहा गया कि अरे यहीं आत्मा देखना चाहिए, यही आत्मा सुनना चाहिए, यही आत्मा उपासनामें लाना चाहिए। तो मैं और कुछ हूँ इस समय और अन्य अवस्था जो कि विलक्षणरूप है उससे मैं प्रेरित हुआ हू, ऐसा उसका अभिप्राय बना, एक अहंकार बना मुझको आत्मा देखना चाहिए, सुनना चाहिए, ध्यान किए जाना चाहिए। इस प्रकारके अहंभाव रूपसे वहाँ स्वयं आत्मा ही तो प्रतिभासित हो रहा है अत: वह ही विधि है। ऐसा वेदान्तवादियोंने भी कहा है। और इन सब नियोगोंको प्रमाणरूप माननेपर इस ही ब्रह्मवादका प्रवेश होता है। प्रभाकरोंका फिर वह नियोगवाद नहीं रहता।

नियोगको प्रमेयरूप माननेके द्वितीय विकल्पका निराकरण—यदि प्रभाकर कहें कि फिर तो नियोगको प्रमेयरूप मान लिया जाय, क्योंकि नियोगको प्रमेयरूप माननेपर उक्त दोष बताया गया है। समाधानमें भट्ट कहते हैं कि यह भी बात असंगत है, क्योंकि नियोगको प्रमेयरूप माननेपर फिर प्रमाणका अभाव हो जाता है। और जब प्रमाणका अभाव है तो प्रमेय कोई कुछ टिक नहीं सकता। यदि नियोगको प्रमेयरूप मानते हो तो उसका प्रमाण कुछ अन्य बताना ही चाहिए। क्योंकि प्रमाणके अभावमें प्रमेयपना बन नहीं सकता। यदि प्रभाकर यह कहे कि श्रुतिवाक्य ही तो प्रमाण है, तो यह बात घटित नहीं होती, क्योंकि श्रुतिवाक्य तो है अचेतनस्वरूप और प्रमाण होता है चिदात्मक। तो अचिदात्मक श्रुतिवाक्यमें प्रमाणपना घटित नहीं हो सकता। केवल एक उपचारकी ही बात कही जा सकती है। यदि यह मान लोगे कि श्रुतिवाक्यको संविदात्मक मान लेंगे तो इसका यही तो अर्थ हुआ कि

http://sahjanandvarnishastra.org/

पुरुष ही श्रुतिवाक्य है। जो एक सर्वव्यापक ब्रह्म है वही सब कुछ है और वही प्रमाण हुआ। तो श्रुतज्ञानको ज्ञानात्मक माननेपर पूर्वपक्ष ही आ गया अर्थात् वह प्रमाण-प बन गया। और, उस श्रुतिवाक्यका सम्वेदनरूप पर्याय अथवा उस सम्विदात्मकका सम्वेदनरूप पर्याय क्या है ? मैं नियुक्त हुआ हूँ, इस प्रकारका अभिमानरूप नियोग है और उसे प्रमेय मानते हो जो कि ज्ञानका ही पर्याय है, तो वह पुरुषसे कुछ अन्य तो न रहा। सो इस तरह इस पक्षमें भी वेदान्तवादियोंके मंतव्यका प्रवेश हुआ। नियोगवादकी कोई बात न रही।

नियोगको प्रमाणप्रमेयोभयरूप माननेके तृतीय विकल्पका निराकरण

अब नियोगवादी प्रभाकर यह कहता है कि यदि केवल प्रमाणरूप मानते हैं नियोगको तो दोष दिया गया और प्रमेयरूप मानते हैं नियोगको तो दोष दे दिया गया तो अब नियोगको प्रमाण व प्रमेयरूप मान लीजिए अर्थात् नियोग द्वयात्मक है प्रमाणरूप और प्रमेयरूप। उत्तरमें भट्ट कहता है कि यह भी बात अयुक्त है, क्योंकि प्रमाण प्रमेयरूप नियोगको मान लेनेपर ज्ञानकी पर्यायपनेका प्रसंग होता है। यदि प्रमाण प्रमेयरूप नियोगको ज्ञानका पर्याय न माना जायगा तो वह प्रमाण प्रमेयरूप बन ही नही सकता। और, प्रमाण प्रमेयरुप नियोगका ज्ञान पर्यायपना सिद्ध होनेपर बात नही रही कि यह चिदात्मा दोनों स्वभावसे अपने आपको दिखाता हुआ नियोग है। जो ब्रह्मस्वरुप है, जो सम्विदात्मक है वह क्या अपने आपका सम्वेदन नहीं करता ? तो ज्ञानमें सम्विदात्मक स्वरुपमें प्रमाण प्रमेय उभयरूपता है वही प्रमाण है। वही प्रमेय है। तो नियोगको प्रमाण प्रमेयरूप माननेपर वही ब्रह्मवाद सिद्ध होता है। वहां भी नियोगवादकी कोई प्रतिष्ठा न रही।

नियोगको अनुभयस्वभावरुप माननेके चतुर्थ विकल्पका निराकरण—

अब प्रभाकर कहता है कि तब फिर नियोगको अनुभयस्वभावरूप मान लीजिये। इस शंकापर भट्ट उत्तर देता है कि तो इसका तात्पर्य यही हुआ कि सम्वेदन मात्र ही पारमार्थिक स्वरूप रहा। क्योंकि उसने न प्रमाण स्वभावरूप माना और न प्रमेय स्वभावरुप माना। तो वह एक सम्वेदनमात्र रहा। न निर्णायक रहा न ज्ञेय रहा। तो सम्वेदनमात्र तत्त्व सिद्ध होनेपर फिर तो वह कभी भी हेय नही हो सकता तब उसमें अनुभस्वभावपना सम्भव हो सकता है सो इस तरह प्रमाण और प्रमेयरुप अवस्थाके भेदसे रहित सन्मात्र सर्वस्व रुपसे उस हीका वेदान्तवादियोंने ब्रह्मरूप निरूपण किया है तो इस पक्षमें भी ब्रह्मवादका प्रवेश होता है। इस तरह नियोगका न प्रमाण स्वरुप न प्रमेयस्वरूप न उभयस्वरुप और न अनुभय स्वरुप सिद्ध किया जा सका।

नियोगको शब्दव्यापाररूप व आत्मव्यापाररूप माननेके पञ्चम व

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

षष्ठ विकल्पका निराकरण—अब यदि प्रभाकर यह माने कि फिर शब्दके व्यापारको ही नियोग मान लिया जाय तो सुनिये, इसमें भट्ट मतका ही अनुसरण हो गया क्योंकि भट्ट सिद्धान्तमें शब्दव्यापारको शब्दभावनारूप माना है। यदि पुरुष व्यापारका नाम नियोग कहते हो तो इस पक्षमें भी तो भट्ट मतका अनुसरण हो गया, क्योंकि पुरुषका व्यापार भी भावना स्वभावरूप है। पुरुष है एक चैतन्यात्मक उसका व्यापार और क्या हो सकता है ? सिवाय भाव करनेके, भावना करनेके। यदि नियोगको पुरुष व्यापाररूप मानते हो तो वह भी भावनास्वभावी सिद्ध हुआ और श्रुतिवाक्यका अर्थ भावना है यही तो भट्ट मन्तव्य कहता आया है। भावनायें दो प्रकारकी हुआ करती हैं एक शब्द व्यापाररूपसे, एक आत्मव्यापाररूपसे। यदि शब्द व्यापाररूप नियोगको मानते हैं तो वहां जैसे भावना वाक्यार्थ सिद्ध हो जाता है। इसी प्रकार आत्मव्यापाररूप नियोगको मानते हैं तो वहां भी भावनारूप वाक्यार्थ सिद्ध हो जाता है।

नियोगको शब्दात्मोभयरूप माननेके सप्तम विकल्पका निरूपण—अब प्रभाकर कहता है कि फिर शब्द व्यापार और आत्मव्यापार दोनों रूप नियोगको मान लीजिए। समाधानमें कहते हैं कि इन दोनोंको नियोगरूप माननेके प्रसंगमें यह तो बतलावो कि दोनोंरूप क्रमसे हुए या युगपत् हुए ? यदि कहो कि क्रमसे नियोग दोनों रूप बनता है—शब्दव्यापाररूप और आत्मव्यापाररूप, तो ऐसा कहनेमें वही दोष है। कोई किसी समय शब्दव्यापाररूप रहा तो वह भी भावना स्वभावरूप अर्थ कहलाया और जब कभी पुरुष व्यापाररूप रहा तो उसका भी अर्थ भावना ही कहलाया। तो भावनारूप श्रुतिवाक्यार्थका ही एक नाम रख दिया नियोग। नियोग कोई भिन्न अर्थ नही रहा। यदि कहो कि नियोग शब्द व्यापाररूप और आत्म व्यापाररूप दोनों ही स्वभाव वाले एक साथ हैं तो दोनों स्वभावरूप एक साथ एक वस्तुमें एक भावमें हों यह बात व्यवस्थित नहीं की जा सकती है।

नियोगको शब्दात्मानुभयरूप माननेके अष्टम विकल्पमें वाक्यकालमें अविद्यमान विषयस्वरूप उस नियोगका निराकरण—अब प्रभाकर कहता है कि फिर अनुभयरूप ही मानलो अर्थात् नियोग शब्द व्यापाररूप और अर्थ व्यापाररूप दोनोंसे रहित मान लिया जाना चाहिए। [illegible] इस पक्षमें यह बतलाओ कि वह अनुभय व्यापाररूप नियोग क्या विषय स्वभावरूप है या फल स्वभावरुप हैं या स्वभावरहित स्वरुप है। अर्थात् नियोगको जो शब्द व्यापार और अर्थव्यापारसे रहित मानते है वे नियोग किस स्वभावरुप हैं ? विषयस्वभावरूप अर्थात् जो कार्य किये जानेका आदेश है या जिस विषयमें भाव लगाया जाता है [illegible] विषय स्वभावरुप है या यज्ञ आदिकके फल जो प्राप्त होंगे क्या ऐसे फल स्वभावरूप है, अथवा कोई स्वभाव ही नहीं है। यदि कहो कि वह नियोग जो कि शब्दव्यापार और आत्मव्यापार दोनोंसे रहित है वह

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

विषय स्वभावरुप है तो बताओ कि वह विषय कौनसा है ? जैसे कि एक वाक्य आया श्रुतिमें आया कि "अग्निष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत," इस वाक्यका अर्थ क्या याग आदिक विषय है अर्थात् यज्ञ करना वह विषय है। तो य ; बताओ कि वह यज्ञ विषय इस वाक्यके कालमें स्वयं अविद्यमान है या विद्यमान है, जब कि यह वचन बोला गया उस कालमें याग विषय मौजूद है अथवा नही है ? यह सब पूछा जा रहा है इस प्रसंगमें कि श्रुतवाक्यका अर्थ नियोग माना है तो वह नियोग अनुभय स्वरुप है, विषयरुप है और वह यागरुप है तो उस वचन प्रयोगके कालमें वह विषय अविद्यमान है या विद्यमान ? यदि कहो कि वाक्यकालमें वह याग आदिक विषय अविद्यमान है, तो भाव यह हुआ कि उस यागविषयक स्वभावरुप नियोग भी अविद्यमान कहलाया। फिर यह नियोग वाक्यका अर्थ कैसे हुआ ? जो बात है ही नहीं वह किसीका अर्थ कैसे बन जाय ? जैसे आकाशपुष्प उसकी सत्ता ही नही हो वह किसी वचनका अर्थ तो न बन जायगा। यदि कहो कि भावी है वह यज्ञ जिस समय वाक्य बोला गया कि स्वर्गका अभिलाषी याग करे तो अभी वाक्य ही बोला गया है और याग करनेकी बात उसकी बुद्धिमें आयी है, और वह याग भावी है, भविष्यकालमें होनेका है। तो भविष्यकालमें होने वाले बुद्धिमें इस समय आरुढ़ उस यागको नियोगका वाक्यार्थ मान लिया जायगा। तो उत्तरमें कहते हैं कि इस तरह तो क्षणिकवादियोंके मनका अनुसरण हो बैठेगा, क्योंकि क्षणिकवादमें भी जब कि पदार्थ क्षण क्षणमें नवीन नवीन होते हैं, तो जो लोगोंके चित्तमें कल्पनायें रहती हैं किसीके भविष्यके कामकी तो वे तो असत् ही हैं। लेकिन बुद्धिमें आरुढ़ होकर वह विषय बन जाता है तो ऐसा ही नियोगवादी प्रभाकर मान रहा है, इससे वाक्यके कालमें वाक्यका अर्थ अविद्यमान है वह पक्ष नहीं बनता।

नियोगको शब्दात्मानुभयरूप माननेके अष्टम विकल्पमें वाक्यकालमें विद्यमानविषयस्वरूप उस नियोगका निराकरण—यदि कहो कि उस वाक्यके कालमें यह अनुभय स्वभावरूप नियोग याग विषयरूप होता हुआ विद्यमान ही है, तो उत्तरमें कहते हैं कि फिर वाक्यका अर्थ नियोग न रहा, क्योंकि नियोग तो होता है यज्ञ आदिक कार्य करनेके लिए और जो किया ही जा चुका है, निष्पन्न ही हो गया है, विद्यमान ही है, ऐसे याग आदिक फिर निष्पादन होनेका योग नही है। उसका क्या निष्पादन करना ? वह तो निष्पन्न ही हो गया। जैसे पुरुष ब्रह्म, वह निष्पन्न ही है, उसको क्या निष्पन्न करना। यदि कहो कि उस नियोगका अर्थ तो अनिष्पन्नरुप है और तभी उस अनिष्पन्नरुपके निष्पादनके लिए नियोग होता है तो उत्तरमें कहते हैं कि फिर तो अनिष्पन्न यागस्वरुप नियोग भी अनिष्पन्न रहा फिर वह वाक्यार्थ कैसे हुआ ? इस कथनका तात्पर्य यह है कि यहाँ पूछा जा रहा है कि स्वर्गका अभिलाषी पुरुष यज्ञ करे ऐसा जब वाक्य बोला उस वाक्यके सम्बन्धमें ही यज्ञ विद्यमान है तो अब करने की बात क्या रही ? यज्ञ करनेके लिए ही तो यह उपदेश किया गया था। और, माना

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

यह जा रहा है कि इस वाक्यके समयमें ही वह याग विद्यमान है तो निष्पन्न वस्तुके निष्पादनका कोई प्रयत्न ही नही किया जाता। इसपर यह कहा है कि नही वाक्यके कालमें यद्यपि वह याग निष्पन्न है, लेकिन उसमें कुछ अनिष्पन्नरूप भी है, उसके निष्पादनके लिए यह नियोग बताया गया है। इस पक्षमें भी वाक्यका अर्थ यह निकला कि अनिष्पन्न याने अविद्यमान याग आदिक विषय स्वभावरुप नियोग भी अनिष्पन्न ही है तो यहाँ भी यह कल्पना करेंगे कि स्वयं यद्यपि नही है, अनिष्पन्न है तो भी कल्पना में तो आरूढ हुआ है। तो स्वयं असन्निहित किन्तु कल्पनामें आरूढ़ जो याग विषय है, कर्तव्यकी बात है, वह वाक्यका अर्थ है, इस तरह कल्पनारूढ़ अविद्यमान विषयको वाक्यका अर्थ माननेपर वहीं सौगत मतका प्रवेश हो जाता है। जैसे कि अविद्यमान पक्षमें क्षणिकवादियोंका मत आ गया था इसी प्रकार अनिष्पन्न पक्षमें भी क्षणिकवादियों के मतका प्रवेश हो जाता है।

शब्दात्मानुभयव्यापाररूप नियोगको फलस्वभाव मानकर भी नियोग वाक्यार्थकी असंगतता— शब्द व्यापार और पुरुष व्यापार दोनोंसे रहित नियोगको यदि फलस्वभाव मानते हो तो यह पक्ष भी असंगत है, क्योंकि फलस्वभाव नियोग माननेपर इसका अर्थ यह हुआ कि स्वर्ग आदिक फल नियोग है और उस नियोगको माना यहाँ श्रुतिवाक्यका अर्थ नियोगरुप, तो जब स्वर्गादिक फल नियोग हुआ तो नियोगका फल दूसरा होना चाहिये। याने जब स्वर्गादिक फल नियोग है तो उसका और दूसरा फल होना चाहिए, क्योंकि जिसका फल नहीं होता वह नियोग नहीं कहा जा सकता। नियोग कहते ही उसे हैं कि जिसका कोई फल हो। किसी कार्यमें नियुक्त कर दिया तो कार्यमें लगनेका नाम नियोग है और उस नियोगको माना स्वर्गफलरुप तो कार्यमें लगनेका फल तो हुआ करता है। स्वर्गफल नियोग बना तो उसका फल बतलाइये। यदि कहोगे कि स्वर्गफलरुप नियोगका भी अन्य फल होता है, तब अन्य फल भी नियोगस्वरुप बन गया, क्योंकि यहाँ पक्ष यह माना जा रहा है कि नियोग फलस्वरुप हुआ करता है। फिर उस फलान्तरस्वरुप नियोगका भी अन्य फल मानना चाहिए। उसका भी फल जो बतायेंगे उस फलस्वरूप नियोगका भी अन्यफल मानना चाहिए। यों अनवस्था दोषका प्रसंग होता है। दूसरा दोष फलस्वरुप नियोग माननेमें यह भी है कि वाक्यके कालमें फल तो स्वयं असंन्निहित है। मौजूद नहीं है। जिस समय यह वाक्य बोला गया कि अग्निष्टोमसे स्वर्गाभिलाषी पुरुष यज्ञ करे तो इस वाक्यके बोलने के समयमें स्वर्गरूप फल तो मौजूद नहीं है। और, फल स्वभाव नियोग माना गया है। तो इसका अर्थ यह है कि फलस्वभावरूप नियोग भी वाक्यके कालमें अविद्यमान रहा। तो फिर नियोग वाक्यका अर्थ कैसे निकल आया? वाक्यके समयमें वाक्यका कुछ अर्थ ही नहीं। तो जो असन्निहित है ऐसा स्वर्गादिक फल, यदि उस श्रुतिवाक्यका अर्थ मान लिया जाय तो निरालम्बन शब्दवादका आश्रय करनेका प्रसंग आ गया, अर्थात् शब्द बोले और उसका आलम्बन कुछ नहीं, सद्भूत विषय कुछ नही। फिर

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

प्रभाकरके मतकी सिद्धि कैसे होगी ? कुछ आलम्बन ही नहीं है, असत् हो गया ।

स्वभावरूप नियोगके विकल्पकी असंगतता—यदि स्वभावरूप नियोग माना जाता है तो इसमें भी पहिले जैसा ही दोष आता है अतएव निराकृत हो जाता है । स्वभावमें कुछ न कार्य प्रतीत हुआ न कोई प्रेरणा प्रतीत हुई, न कोई प्रवृत्तिकी कारणभूत ही बात बनी तो निरालम्बनकी तरह हो गया । कोई आलम्बन ही न रहा, उसके किए जानेका कोई अर्थ ही न रहा वाक्यका क्या अर्थ कहलाया ? केवल स्वभाव है बस वही नियोग है । इसमें क्या प्रवृत्ति हुई, क्या निवृत्ति हुई ? क्या कहा गया ? मूकको तरह एक समयको खो देने जैसी बात रही ।

सत् असत् उभय अनुभय इन चार विकल्पोंरूप नियोगवादका निराकरण—नियोगवादके सम्बन्धमें और भी सुनो ! प्रभाकर द्वारा माना गया नियोग क्या सत् होता हुआ ही नियोग है या असत् होता हुआ ही नियोग है ? या सत् असत् उभयरूप नियोग है ? इन चार पक्षोंमेंसे यदि प्रथम पक्ष माना जाता है कि सत् होता हुआ ही नियोग है तो इस पक्षमें विधिवादका समर्थन हुआ, क्योंकि जो सन्मात्र है वह तो विधि है । इसमें नियोगकी ही बात कहाँ आई ? यदि कहो कि असत् होता हुआ ही नियोग है तो इसमें निरालम्बनवाद आ गया । याने कुछ है ही नहीं, अब वाक्यका क्या अर्थ रहा ? श्रुतिवाक्यका वह अर्थ है जिसका कुछ ठिकाना ही नहीं, कोई लक्ष्य ही नही । तब नियोग क्या चीज रही ? यदि कहो कि सत् असत् उभयरूप होता हुआ नियोग है, तो जो सत् और असत्में दोष दिया गया था, दोनों ही तरहके दोष इस तृतीय पक्षमें घटित होते हैं । यदि कहो कि न सत् है न असत् है, ऐसा अनुभयरूप नियोग है, तो इसमें तो स्वयं ही बाधा आ रही । सत्व और असत्व ये दोनों परस्पर एक दूसरेका निराकरण करते हुए रहते हैं । जब सत्त्व कहा तो इसका अर्थ हुआ कि असत्त्व नहीं है । और, जब असत्त्व कहा तो इसका अर्थ है कि सत्त्व नही है । एकके निषेध करनेमें दूसरेका विधान आ ही जाता है । तो ऐसा परस्पर व्यवच्छेदरूप सत्त्व और असत्त्वका एक जगहमें एक साथ प्रतिषेध नही किया जा सकता है । यदि कहो कि सर्वथा सत्त्व और असत्त्वका प्रतिषेध होनेपर भी अर्थात् सत्त्व असत्त्व एक वस्तुमें नही रह सकता है लेकिन कथंचित सत्त्व और कथंचित असत्त्वका तो एक जगहमें विरोध नहीं है । तो उत्तरमें कहते हैं कि यों तो फिर प्रभाकरको स्याद्वादका आश्रय लेना पड़ा, उसकी खुदकी निजकी बात क्या रही ?

प्रवर्तकस्वभाव नियोगकी असंगतता—और भी बात विचारिये कि ये समस्त नियोग जो ११ प्रकारोंमें प्रवक्ता लोग बतलाते हैं, वह सारा नियोग प्रवर्तकस्वभावी है या अप्रवर्तकस्वभावी है ? याने किसी कार्यमें प्रवृत्ति करानेका स्वभाव रखता है नियोग या कहीं कुछ प्रवृत्ति न करानेका स्वभाव रखता है ? यदि कहो कि

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

नियोग प्रवर्तकस्वभावी है तो उत्तरमें कहते हैं कि यों तो फिर प्रभाकरोंकी तरह नियोग क्षणिकवादियोंको भी प्रवर्तक बना देवें। जब नियोगका अर्थ किया है प्रवर्तकत्व और वह है श्रुतिवाक्यका अर्थ तो जब नियोग प्रवर्तन करानेका स्वभाव रखता है तो जिस समय उस श्रुतिवाक्यको बोला गया कि स्वर्गाभिलाषी यज्ञ करे तो उसका अर्थ जो निकलता है वह तो एकदम प्रवृत्ति करानेका स्वभाव रखता हुआ निकलता है। तो जैसे उस शब्दको प्रभाकरोंने सुना और वे प्रवृत्ति करने लगें, वहीं बैठे हुए क्षणिकवादियोंके भी कानमें शब्द आए और उसका अर्थ है प्रवृत्ति करानेके स्वभावरूप तो फिर उनको भी प्रवृत्ति करा बैठना चाहिए, क्योंकि यहां तो उस नियोगको सर्वथा प्रवर्तकरूप मान लिया गया है। यदि प्रभाकर यह कहे कि इस श्रुतिवाक्यका अर्थ जो नियोग है वह प्रवर्तकस्वभाव तो है लेकिन क्षणिकवादी तो विपरीतबुद्धि लिए हुए हैं, सो उनकी प्रवृत्ति नहीं करा पाता। तो उत्तरमें कहते हैं कि तब फिर प्रभाकरको भी प्रवृत्ति न कराना चाहिए, क्योंकि वह भी विपरीत है। उन प्रभाकरोंके सम्बन्धमें भी यह कहा जा सकता है कि प्रभाकरोंके मंतव्य भी विपरीत हैं। और, जैसे कि क्षणिकवादियोंको विपरीत मानता हो यों कि उनके मतमें प्रमाणसे बाधा आती है तो इस बुनियादपर कि प्रमाण बाधित है उनका मंतव्य इसपर सौगत ही विपरीत माना जाय और प्रभाकरके सिद्धान्त विपरीत न माने जायें, यह तो एक पक्षमात्र है, क्योंकि प्रभाकरोंका मंतव्य भी प्रमाणबाधित है। जैसे कि क्षणिकवादियोंके प्रति यह कहा जाता है कि वह मानता है पदार्थोंको प्रतिक्षणमें विनश्वर, क्षण क्षणमें नष्ट होते हैं समस्त पदार्थ। ऐसा उनका कथन प्रत्यक्ष आदिक प्रमाणसे विरुद्ध है। यों कहकर क्षणिकवादियोंको विपरीतबुद्धि कहा है। तब यहां भी देखिये कि नियोगवादी, नियोगता नियोग वियोगका विषय आदिक जो भेद कल्पित करते हैं तो यह कल्पना भी तो प्रमाण विरुद्ध है, क्योंकि समस्त प्रमाण विधिकी विषयताकी ही व्यवस्था करता है अर्थात् एक ब्रह्मवादका ही समर्थन करता है तो उनकी दृष्टिसे प्रभाकर भी विपरीत हुए। इस कारण यह पक्ष युक्त नहीं बना कि नियोग प्रवर्तक स्वभाव वाला होता है।

अप्रवर्तक स्वभाव नियोगकी असिद्धि—यदि कहो कि शब्दनियोग अप्रवर्तक स्वभाव वाला है याने श्रुति वाक्यका जो अर्थ निकला नियोग वह नियोग प्रवृत्ति न कराये ऐसे स्वभाव वाला है। तब तो यह सिद्ध हो गया कि नियोग प्रवृत्तिका कारण नहीं है। और, तब उस नियोगसे कोई काम ही न निकला, अर्थ क्रिया ही न हुई। किसी पुरुषके मनमें कुछ बात ही न जची। कोई यज्ञ आदिककी प्रवृत्ति न हुई तो ऐसी प्रवृत्तिका अहेतभूत अप्रवर्तक स्वभाव वाला नियोग वाक्यका अर्थ नहीं हो सकता, अप्रवर्तक स्वभाव वाले नियोगमें वाक्यार्थता असिद्ध है।

फलरहित नियोगकी मीमांसा—अब नियोगके सम्बन्धमें अन्य बात भी देखिये—वह नियोग फलरहित है या फलसहित है? यदि कहो कि फलरहित है तो

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

फलरहित नियोगमें तो बुद्धिमानोंकी प्रवृत्ति हो नहीं सकती। यदि फलरहित नियोगमें भी कोई प्रवृत्ति करे तो वह बुद्धिमान नहीं कहा जा सकता उसकी गिनती मूर्खोंमें आयगी। क्योंकि प्रयोजनका उद्देश्य बनाये बिना तो मंदबुद्धि पुरुष भी प्रवृत्ति नही करता। कोई भी पुरुष ऐसा नही है कि प्रयोजन कुछ न हो और प्रवृत्ति करे। हां ऐसा पागल ही कोई हो सकता है। जो प्रवृत्ति तो कर रहा है कुछ और प्रयोजन उस का कुछ भी नहीं है यदि नियोग फलरहित है तो नियोगसे प्रेक्षावानोंकी प्रवृत्ति नही हो सकती। प्रभाकर शंका करता है कि यह बात सर्वथा नहीं कह सकते कि प्रयोजन न हो तो प्रवृत्ति हो ही नहीं सकती। देखो प्रसिद्ध प्रचण्ड तेजस्वी राजाके वचनके नियोग से लोग प्रवृत्ति करते है। प्रयोजन न रहकर भी राजा कुछ आज्ञा करता है और लोगोंको आज्ञा पालना पड़ता है। उनका प्रयोजन और फलका कुछ उद्देश्य ही नही है। उससे उन्हें क्या मिलेगा? ऐसी भी अनेक घटनायें आती हैं कि राजाज्ञाको मानना पड़ रहा है और मानने वालोंको उससे किसी वस्तुका लाभ नहीं हो रहा। इस कारण यह दोष नहीं दिया जा सकता कि फलरहित नियोगसे फिर किसी बुद्धिमानकी प्रवृत्ति न बनेगी। उत्तरमें कहते हैं कि उक्त शंका भी ठीक नही है, क्योंकि यदि प्रसिद्ध प्रचण्ड राजाके वचनके नियोगसे कोई पुरुष फल लाभके बिना भी प्रवृत्ति करता है तो वहाँ यह न समझना चाहिए कि उस पुरुषने प्रयोजनके बिना राजवचन माना। यद्यपि किसी वस्तुका लाभ नहीं हो रहा, यह प्रत्यक्ष दिख रहा लेकिन कोई आपत्ति राजा न डाल दें, उसकी कोई बरबादी न हो जाय, उस बरबादीके बचावका फल तो मिला। राजाज्ञा हुई और प्रवृत्ति की किसी पुरुषने उस ही प्रकार, और लाभ कुछ हो नहीं तो सर्वथा कुछ लाभ नही हुआ यह नही कह सकते। यदि राजवचन नही मानता तो राजा दण्ड देता, बरबादी करता, आपत्ति डालता। तो अब वचन मान लेनेसे उन आपत्तियोंसे तो बच गया, इस कारण यह बात बिल्कुल सही है कि प्रयोजनका उद्देश्य किए बिना मंदबुद्धि पुरुष भी कुछ प्रवृत्ति नहीं करता।

फलरहित नियोगके विकल्पमें प्रत्यवाय परिहार प्रयोजनकी भीअसिद्धि

अब शंकाकर प्रभाकर कहता है कि वेदवचनसे भी नियुक्त होता हुआ पापके परिहारके लिए प्रवृत्ति कर रहा है, यद्यपि श्रुति वाक्यका अर्थ फलरहित नियोग है और फलरहित नियोगसे प्रवृत्ति कर रहा है तो यह न समझना चाहिए कि प्रवृत्ति करने वाले पुरुषने किसी भी प्रयोजनका उद्देश्य बनाये बिना प्रवृत्ति की। उसका प्रवर्तन प्रत्यवायके परिहारके लिए है। प्रत्यवाय कहते हैं दोषको। यदि दोष परिहारके लिए वेदवचनसे नियुक्त हुआ पुरुष प्रवृत्ति करेगा, कहा भी है यह कि अपने दोषकी निवृत्तिके लिए नित्य और नैमित्तिक क्रियाकाण्ड करना चाहिए। तो इसके उत्तरमें कहते हैं कि तब स्वर्गाभिलाषी यज्ञ करे यह वचन कैसे सिद्ध हुआ, क्योंकि यहाँ यज्ञ करो, इस तरहके लिङ् प्रत्ययसे अथवा इसके एवजमें लोट् और तव्य प्रत्यय भी लगाये जा सकते हैं। जैसे जुहुयात, यह तो हुआ लिङ्लकारका रूप, जिसका अर्थ है यज्ञ करे। जुहोतु यह

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

लोट् प्रत्यय है जिसका अर्थ है यज्ञ करो। और होतव्यं, इसमें है तव्य प्रत्यय, जिसका अर्थ है हवन करना चाहिए। तो ये तीनों ही प्रकारके प्रत्यय बताने मात्रसे ही नियोग मात्रकी सिद्धि हुई, और देखिये! उससे प्रवृत्ति हुई। तात्पर्य यह है कि यह कहना कि जो वेद वचनसे नियुक्त होता है पुरुष, वह जो यज्ञमें प्रवृत्ति करता है वह दोष परिहार के लिए करता है यह बात असिद्ध हुई। देखो स्वर्गकी प्रवृत्तिके लिए करता है एक तो यह बात उस वाक्यके अर्थमें झलकी, दूसरी बात कोई निष्काम पुरुष भी हो और वह यज्ञमें प्रवृत्ति करता है वेदवाक्यको सुनकर तो उसका भाव यह हुआ कि आज्ञा प्रधानता के ढंगसे लिङ्ग आदिक प्रत्ययके निर्देशसे जितना नियोग अर्थ झलकता है, इतने मात्र नियोगसे प्रवृत्ति सम्भव हुई, तब यह नही कहा जा सकता कि दोष परिहारके अर्थ ही प्रवृत्ति होती है। और, पक्ष यह चल रहा है कि श्रुतिवाक्यका अर्थ है फलरहित नियोग तो फलरहित नियोज अर्थमें बाधा आती है।

फलसहित नियोगकी मीमांसा—यदि कहो कि श्रुतिवाक्यका अर्थ है फल सहित नियोग, तो इस पक्षमें तात्पर्य यह निकला कि फलार्थिता ही प्रवर्तक रही, नियोग प्रवर्तक न रहा। श्रुति वाक्यको सुनने वाले पुरुषने जो फलकी चाहकी तो फलकी चाह रूप भाव ही यज्ञमें प्रवर्तन कराने वाला रहा, इससे अतिरिक्त नियोग अर्थ और कुछ न रहा, क्योंकि देखो कि अब नियोगके बिना भी फलार्थितासे प्रवृत्ति देखी जाती है। यदि कहो कि पुरुषके वचनसे नियोग बन जायगा तो कहते हैं कि यह उलाहना भी उपालम्भ भी युक्त नहीं है, क्योंकि ऐसा कहा जानेपर तो यह बात बनी कि जो अपौरुषेय, अग्निहोम आदिक वाक्य हैं फिर उनसे नियोग न बना। और, इस तरह तो सर्वं खल्विदं ब्रह्म अर्थात् सब कुछ यह सत्त्व समूह एक मात्र ही सत् है, ब्रह्म है, यह यह वचन जो विधि मात्रका प्रतिपादक है वह भी उपालम्भसे रहित हो जायगा। सो इस तरह वेदान्तवादकी सिद्धि होती है। तो यों जो ११ प्रकारका उस श्रुति वाक्यका नियोगरूप अर्थ निकाला गया है, वह सब प्रकारका नियोग वाक्यका अर्थ नहीं है, क्योंकि उस नियोगसे किसीकी प्रवृत्ति ही नही हो पा रही है विधिकी तरह। विधि ब्रह्म यह एकार्थक शब्द है। जैसे कि सन्मात्र ब्रह्म वह किसीकी प्रवृत्तिका कारण तो नही है। इसी तरह ये सब नियोगरुप वाक्यार्थ भी किसीकी प्रवृत्तिके कारण नही हैं। यों नियोगका अर्थ इन विकल्पोंके विचार करनेपर घटित नही होता। यों उन ११ तरहके नियोगार्थको एक सामूहिकरूपसे निराकृत करनेकी बात नहीं।

शुद्ध कार्यरूप नियोग व शुद्ध प्रेरणारूप नियोगकी असंगतता—अब यदि उन सभी विकल्पोंमें प्रत्येक नियोगरूप अर्थको अलग–अलग विचार भी करते हैं तो भी नियोगका अर्थ सिद्ध नही होता। यदि यह नियोगवादी यह कहने लगे कि आप हम लोगोंके प्रथक् प्रथक् नियोगार्थकी मीमांसा करिये, उसमें यदि श्रुतिवाक्यका अर्थ घटित न हो तब दूषण बताइये तो अब उन समस्त ११ अर्थोंमें क्रम क्रमसे एक एक अर्थके

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

ऊपर विचार करते हुए नियोग अर्थका निराकरण करते हैं। नियोगवादियोंका प्रथम आख्यान है कि शुद्ध कार्यको नियोग कहते हैं किन्तु वह पक्ष घटित नहीं होता, इसका कारण यह है कि जहाँ न प्रेरणा है न कोई नियोज्य है वहाँ नियोग सम्भव नहीं हो सकता है यदि प्रेरणारहित, नियोज्य रहित होनेपर भी किसी अर्थका नियोग नाम धर दिया जाय तो वह एक इस तरहका नामकरण है जैसे कि कोई अपने कम्बलका कुदाली नाम धर दे। मगर इस तरह नाम धरने मात्रसे, जिसमें कार्य कुछ नहीं, प्रयोजन कुछ नहीं, उससे इष्टकी सिद्धि नहीं होती। दूसरा आख्यान है नियोग का कि शुद्ध प्रेरणाको नियोग कहते हैं। यह भी इस ही तरह खण्डित हो जाता है इसका कारण यह है कि जहाँ नियोज्य नहीं और फल नहीं ऐसी प्रेरणा भी प्रलाप मात्र है। जहाँ उसका कोई फल ही नहीं तो थोथी प्रेरणासे प्रवृत्ति क्या होगी। और नियोज्य ही नहीं तब प्रवृत्ति कौन करेगा तो? नियोज्य और फलरहित प्रेरणाको नियोगरूप नहीं दे सकते।

प्रेरणासहित कार्यरूप कार्यसहित प्रेरणारूप, कार्यप्रवर्तकत्वरूप व कार्यप्रेरणा सम्बन्धरूप नियोगकी असंगतता—तृतीय आख्यान है नियोगका यह कि प्रेरणा सहित कार्यको नियोग कहते हैं। यहां पक्ष भी खण्डित हो जाता है क्योंकि जब नियोज्य कोई पुरुष नहीं है तो उसके अभावमें नियोगका अर्थ ही क्या रहा? चतुर्थ आख्यान है कि कार्यसहित प्रेरणाको नियोग कहते हैं। यह बात भी उक्त निराकरणसे निराकृत हो जाती है। नियोगका ५ वाँ आख्यान है कि उपचारसे कार्यकी प्रवर्तकताका ही नाम नियोग है यह बात भी सारहीन है क्योंकि नियोज्य प्रेरणा फल आदिककी अपेक्षा न रखकर कार्यमें प्रवर्तकपनेका उपचार ही नहीं हो सकता। भला जहां न कोई नियोज्य पुरुष है, न प्रेरणाका भाव है, न फलका दिग्दर्शन है वहाँ कार्यमें प्रवर्तकपना कैसे सम्भव है क्योंकि कभी किसी भी समय परमार्थसे कार्य उस प्रकार उपलब्ध ही नहीं होता। नियोगका छठा आख्यान है कि कार्य और प्रेरणाके सम्बन्धको नियोग कहते हैं। यह कथन भी असंगत है, क्योंकि कार्य और प्रेरणासे भिन्न सम्बन्ध जो कि सम्बन्धियोंकी अपेक्षा न रखता उस सम्बन्धमें नियोगपनेकी बात घटित नहीं होती। यदि कहा जाय कि सम्बन्ध्यात्मक कार्य और प्रेरणाके सम्बन्धमें नियोगपना आ जायगा तो यह भी एक कठिन अभिप्रायमात्र है, क्योंकि जिसके प्रेरणा की गई है अर्थात् जिस पुरुषको प्रेरित किया गया है अथवा किया जा रहा है उस पुरुषसे निरपेक्ष सम्बन्ध्यात्मक कार्य और प्रेरणामें नियोगपना बन ही नहीं सकता।

कार्यप्रेरणा समुदायरूप कार्यप्रेरणा विकलरूप व यन्त्रारूढरूपनियोग की असंगतता—नियोगका ७ वाँ आख्यान है कि कार्य और प्रेरणाके समुदायको नियोग कहते हैं। वह पक्ष भी कार्य और प्रेरणारूप नियोगके निराकरणकी भांति

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

निराकृत हो जाता है। नियोगका ८ वाँ आख्यान है कि कार्य और प्रेरणा दोनों ही स्वभावसे रहित नियोग होता है सो जहां न कार्य है न प्रेरणा है। दोनोंसे रहित यदि कुछ नियोगकी कल्पनाकी जाती है तो वह विधिवाद ही हुआ विधिवादसे अतिरिक्त और कुछ न रहा। नियोगका ९ वाँ आख्यान है कि यंत्रारूढ़को नियोग कहते हैं जैसे कि स्वर्गाभिलाषी पुरुष अग्निहोम आदिक यज्ञ करें इस तरहके वाक्यसे नियुक्त होनेपर यागरूप विषयपर आरूढ़ हुआ ? अपनेको मानता हुआ पुरुष ही प्रवृत्ति करता है, इस कारण जो यंत्रारुढ़ होता है उसीको ही योग कहते हैं। यह पक्ष परमात्मवादके प्रतिकूल है, क्योंकि यहाँ पुरुषके अभिमान मात्रको नियोगपना कहा गया है और पुरुषका अभिमान अविद्याके उदयके कारण होता है। जब अज्ञान समाया हुआ हो तब ही अभिमानका भाव होता है। तो परमात्मवादके प्रतिकूल अभिमान भावको नियोग कहना और उस नियोगसे कल्याणकी बात कहना यह कैसे युक्त हो सकता है ?

भोग्यरूप व पुरुषरूप नियोगकी असंगतता—१० वाँ आख्यान है नियोग का कि जो भोग्यरूप है वह नियोग है। यह बात भी अयुक्त है, क्योंकि नियोक्ता और प्रेरणासे रहित अथवा जहाँ नियोक्ता नहीं, प्रेरणा नहीं वहां भोग्यमें नियोगपना बन ही नहीं सकता है। नियोगवादीका अंतिम आख्यान है कि पुरुष स्वभाव नियोग होता है। दो तत्त्व हैं—पुरुष और प्रकृति। तो नियोग पुरुष स्वभावरूप ही है, यह आख्यान भी घटित नहीं होता, क्योंकि पुरुष तो शाश्वतिक है अर्थात् सदाकाल रहने वाला है, नित्य अपरिणामी, सन्मात्र, चिदात्मक ब्रह्म माना गया है। यदि ऐसे ब्रह्मरूपको नियोग कहा जाय तो नियोग भी शाश्वतिक बन जायगा। जैसे कि ब्रह्म अनादि अनन्त है, एकस्वरूप है। इसी तरह ब्रह्मस्वरूप नियोग भी अनादि अनन्त और एकस्वरूप बन जायगा। इस तरह नियोगवादमें ११ तरहसे नियोगका आख्यान किया गया है वह घटित नहीं होता। इस कारण श्रुति वाक्यका अर्थ भावनारूप ही है।

प्रभाकर द्वारा दिये गए विधिरूप वाक्यार्थके उपालम्भमें भट्ट द्वारा विधिवादका निराकरण—उक्त प्रकार भट्टके द्वारा कहा जानेपर नियोगवादी प्रभाकर प्रश्न करता है कि इस विधिसे नियोगका निराकरण करनेपर भी वाक्यका अर्थपना तो विधिमें घटित हो गया, फिर भावना वाक्यका अर्थ है ऐसा भट्टका सिद्धान्त भी खण्डित हो जाता है। इसके उत्तरमें भट्ट कहता है कि नियोग निराकरणसे विधि में वाक्यार्थपना घटित नहीं होता और न भावनारूप वाक्यार्थका खण्डन होता है। उक्त प्रश्न चित्तमें न रखना चाहिए, क्योंकि जब विधिका भी विचार करते हैं तो विधिरूप अर्थ भी बाधित हो जाता है। जरा विचार इसपर करें कि वह विधि भी अर्थात् ब्रह्मस्वरूप क्या प्रमाणरूप है या प्रमेयरूप है, या प्रमाण प्रमेय दोनों रूप है। या प्रमाण प्रमेय दोनोंसे रहित अनुभयरूप है अथवा वह विधि अर्थात् ब्रह्मरूप नियोग

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

क्या पुरुष व्यापाररूप है या शब्दव्यापाररूप है या पुरुष और शब्द दोनोंके व्यापारसे रहित है ? ये ८ प्रकारके विकल्प जैसे कि नियोगरूप वाक्यार्थके सम्बन्धमें किए गए थे और उन विकल्पोंका निराकरण किया गया था इसी प्रकार इन ८ प्रकारके विकल्पोंमें विधिरूप वाक्यार्थका भी निराकरण होता है। वह किस तरह सो सुनो।

विधिको प्रमाणरूप माननेपर व्याप्ति प्रदर्शन—यदि विधि प्रमाणरूप है तो अब जो सन्मात्र चिदात्मक सर्वस्व विधि है वह तो मान लिया गया प्रमाणरूप, अब बचा ही कुछ नहीं तो प्रमेय क्या होगा ? यदि विधिको प्रमाणरूप मानते हो तो कुछ प्रमेयरूप भी तो होना चाहिए। वह दूसरा क्या है जो कि प्रमेयरूप बने ? यदि कहो कि प्रमाणका स्वरूप ही प्रमेय है, विधिका स्वरूप ही प्रमेय बनेगा तो यह बात नहीं कह सकते क्योंकि जो सर्वथा निरंश है, जिसके खण्ड नहीं हो सकते, सन्मात्र ही जिसका समस्त कलेवर है ऐसी विधिमें प्रमाणरूप और प्रमेयरूप दो भावोंका विरोध है। जब वह विधि, वह ब्रह्म सन्मात्र अखण्ड तत्त्व प्रमाणरूप है तो प्रमेयरूप नहीं हो सकता अन्यथा उसका खण्ड बन गया। अंश बन गए किन्तु विधि तो निरंश है। इस कारण उसमें प्रमाणरूपता है तो प्रमेयरूपता नहीं बन सकती। यदि कहो कि कल्पना द्वारा उस विधिमें दोनों रूपका अविरोध हो जायगा वही सन्मात्र चिदात्मक अखण्ड विधि ब्रह्म प्रमाणरूप है और उस हीमें कल्पनायें करके चूँकि वह चित्स्वरूप है तो खुद चेत्याय भी होगा, अतएव प्रमेय बन जायगा। इस तरह कल्पना द्वारा एक विधि में प्रमाणरूप और प्रमेयरूप दोनोंका अविरोध हो जायगा। तो उत्तरमें कहते हैं कि फिर इस समय शब्दका अर्थ अन्यापोह है इसका निषेध कैसे किया जा सकेगा ? जब कल्पनासे एक विधिमें प्रमाणरूप और प्रमेयरूप दोनोंका अविरोध मान लिया जाता है तब फिर शब्दके अर्थमें विधिरूप और अन्यका अपोहरूप अर्थका अविरोध रहे इसमें कौन सी आपत्ति है ? फिर अन्यापोहको शब्दार्थ क्यों नहीं माना जाता ? क्योंकि अन्यापोहवादी यह सकता है कि ज्ञानमात्र तत्त्वमें अप्रमाणपनेकी व्यावृत्ति होनेके कारण तो प्रमाणपना है और अप्रमेयपनेकी व्यावृत्ति होनेके कारण प्रमेयपना है, अर्थात् तत्त्व वही ज्ञानमात्र है और उस ज्ञानमें अप्रमाणताकी व्यावृत्ति है इस कारण प्रमाणता है और अप्रमेयपनेकी व्यावृत्ति है इसलिए प्रमेयपना है। तो अब देखिये ! ज्ञानमात्र शब्दमें ये दो अर्थ आगए ना, फिर अन्यापोहका निषेध कैसे किया जा सकेगा?

शब्दका विधिकी तरह अन्यापोह अर्थ होनेके विषयमें मीमांसा—शंकाकार कहता है कि अन्यापोह यद्यपि अन्य धर्मका परिहार करता है और शब्दके अन्यापोहका अभिधायक माना गया है अर्थात् शब्द अन्यापोहको भी कह रहा है, तब भी शब्दमें यदि वस्तुस्वरूपको बतानेका भाव नहीं है वह वस्तुस्वभावका वाचक नहीं बनता तो शब्द फिर किसी भी कार्यमें प्रवर्तक नहीं हो सकता। इसका तात्पर्य यह है कि शब्दके अर्थ दो मान भी लिए जायें कि शब्द विधिको भी कहते हैं और अन्यका

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

निषेध भी करते हैं। जैसे घट कहा तो घट शब्द घटरूप पदार्थको भी बताता है और घट शब्द यह भी बताता है कि घटके अतिरिक्त अन्य जितने पदार्थ हैं वे सब यह नहीं हैं याने घट शब्द अघटका परिहार करता है और घटका विधान भी करता है। तो यों शब्दमें दो अर्थ भरे पड़े हैं तो रहें लेकिन उन दो अर्थोंमेंसे यह अन्तर तो देखिये कि घट शब्द जो घटमें प्रवृत्ति कराता है उस प्रवृत्तिका कारण विधिरूप घटका वाचकपना है। कहीं इस कारणसे पुरुष घटको उठाकर उसमें पानी नहीं भरता कि यह अघट नहीं है। इसमें पानी भरलें, किन्तु सीधा भाव यह रहता है कि यह घड़ा है, इसमें पानी भरना है, यह काम देगा तो विधि, स्वभाव, वस्तुस्वभावको कहते हैं शब्द, इस प्रधानतामें शब्द घट विषयमें प्रवृत्ति कराता है। यदि शब्द वस्तुस्वभावका वाचक न बने तो कहींभी प्रवृत्ति बन नहीं सकती इसकारण शब्दका अर्थ अन्यापोह नहीं है प्रवृत्ति का हेतु अन्यापोह अर्थ नहीं किन्तु वस्तुस्वभाव अर्थ है। इसके समाधानमें कहते हैं कि फिर तो वस्तु स्वरूपको बताने वाला होनेपर भी शब्द यदि अन्यका परिहार न बताये तो प्रवृत्ति नहीं कराता है। अन्यके परिहारपूर्वक, फिर तो किसी भी जगह प्रवृत्ति न बन पायगी। तो यों विधि भी शब्दका अर्थ मत बने। जैसे कि शंकामें यह कहा था कि शब्द यदि वस्तु स्वभावका वाचक नहीं बनता तो प्रवृत्ति नहीं बनती, तो यह भी देखा जा सकता है कि शब्द यदि अन्यका परिहार न बताये तो भी प्रवृत्ति नहीं बन सकती। तो विधि भी शब्दका अर्थ मत बने।

श्रुतिवाक्यमें परमपुरुषकी ही विधेयता होनेका प्रश्न और उसका उत्तर कोई यह कहे कि फिर तो परम पुरुष ही विधेय होगया याने शब्दके द्वारा परम पुरुष ही कहा गया और करना भी क्या है? वह एक परम पुरुष स्वरूप ही सारा कार्य है इसलिए परम पुरुषसे अन्य कुछ सम्भव ही नहीं तभी तो अन्यके परिहारसे प्रवृत्ति होती है, यह बात घटित नहीं है। तो समाधानमें कहते हैं कि यदि परम पुरुष से अतिरिक्त कुछ नहीं है और इसी कारण किसी अन्यके परिहार पुर्वक प्रवृत्ति नहीं होती तो फिर इस श्रुति वाक्यसे कि द्रष्टव्यो ऽयमात्मा श्रोतव्यो निदध्यासितव्य: अरे भाई यही आत्मा दिखना चाहिए, यही आत्मा सुनना चाहिए, यही आत्मा उपासनामें लाना चाहिए आदिक वाक्यसे फिर नैरात्म्य अर्थात् आत्माके अस्तित्वको न मानने वाले भावोंके परिहारसे ही आत्मामें प्रवृत्ति फिर न हो सकेगी। याने आत्माका जब उपदेश किया जा रहा है कि आत्माको देखो तो सुनने वाला यह भी तो समझता है कि आत्मासे अतिरिक्त जो बातें हैं उन्हें मत देखो। तो उन बातोंका परिहार करते हुए ही तो उनके आत्मामें प्रवृत्ति होती है। यदि अन्य परिहारकी बात नहीं लायी जाती है तो जो नैरात्म्य आदिक नास्तिक दर्शन हैं उनमें भी प्रवृत्तिका प्रसंग आ जायगा। यदि कहो कि नैरात्म्य आदिक जो नास्तिक दर्शन हैं, जो आत्माका अस्तित्व ही नहीं मानते वे दर्शन तो अविद्यासे कल्पना किये गये हैं इस कारण नैरात्म्य दर्शनों में प्रवृत्ति न होगी। तो उत्तरमें कहते हैं कि फिर अन्यके परिहारसे प्रवृत्ति कैसे न हुई?

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

जो आत्मामें प्रवृत्ति करनेका उपदेश किया जाता है तो उसे सुनकर श्रोता यह समझता है कि आत्माको देखनेका यत्न व अनात्माको छोड़ना शंकाकार कहता है कि जब ब्रह्म स्वरूपकी विधि करदी परम ब्रह्मस्वरूपका दर्शन किया जारहा, उसका अस्तित्व माना जारहा तो एसे परमब्रह्मस्वरूपका विधान ही अविद्यासे मानेगए अन्य नैरात्म्य आदिक दर्शनोंका परिहार कहलाने लगा, अर्थात् परम ब्रह्मस्वरूपका अस्तित्व बताना ही अन्य ब्रह्मविपरीत नैरात्म्य आदिक दर्शनोंका परिहार अपने आप हो गया तो, उत्तरमें कहते हैं कि फिर इस तरह अन्यापोहवादियोंका अन्यापोह ही स्वरूप याने विधि क्यों न बन जाय। जैसे कि कहते हो कि अस्तित्वके माननेका ही नाम अन्यका परिहार है तो यों भी कहा जा सकता कि अन्यके परिहार करनेका ही नाम वस्तुका अस्तित्व है तो फिर अन्यापोह ही अर्थात् अन्यका परिहार करना ही स्वरूपका विधान क्यों न बन जायगा ? यदि यह कहो कि स्वरूपका विधिका तो अन्यापोहवादसे विरोध है इस कारण अन्यका परिहार करना ही स्वरूपका विधान नहीं बन सकता। तो उत्तरमें कहते हैं कि यों तो विधिवादियोंके विधिवादका भी विरोध होनेसे विधिस्वरूपका विधान ही अन्यका अपोहन नहीं बनेगा याने जैसे अन्यापोहवादका विरोध होनेसे अन्यापोहका स्वरूप विधि नहीं माना जाता वैसे ही विधिवादसे विरोध होनेसे फिर विधिवादसे अन्यापोहनका मानना भी मत बनो।

अन्यापोहका प्रतिभासान्तः प्रविष्ट होनेका विधिवादीका पक्ष—शंकाकार कह रहा है कि विधिवादसे अन्यापोहका मानना बन जाता है, यह कहना केवल वचनमात्र है क्योंकि परमार्थसे प्रतिवादीने अन्यापोहको माना ही नहीं। विधिवादीका कथन है कि अन्यापोह भी प्रतिभास समानाधिकरण है अतएव अन्यापोह भी प्रतिभास के अन्दर ही प्रविष्ट है, परम पुरुषपना होनेसे, प्रतिभास स्वरूपकी तरह। जैसे प्रतिभासका स्वरूप प्रतिभासका ही तो समानाधिकरण है इस कारण प्रतिभासमें ही शामिल है इसी प्रकार अन्यापोहको भी प्रतिभासमें ही शामिल कर लिया जाता है। फिर अन्यापोहका मानना क्या रहा ? विधिवादका कहना है कि प्रत्येक पदार्थको, प्रतिभास स्वरूपको, अन्यापोहको यदि प्रतिभास नहीं मानते तो व्यवस्था नहीं बनती। अगर अप्रतिभास माननेपर भी व्यवस्था बन जाय तो इसमें बड़ा दोष आता है। आकाशपुष्प, बंध्यापुत्र आदिक जो असत् हैं वे अप्रतिभासमात्र हैं, असत् ही तो है। फिर उनकी भी व्यवस्था बन जाय। इस कारण विधिवादका यह कथन है कि अन्यापोह चूंकि प्रतिभाससमानाधिकरण है इस कारण प्रतिभासमें ही शामिल है। हाँ शब्द ज्ञानके नाते अथवा एक अनुमान ज्ञानके नाते अन्यापोहका प्रतिभास हो रहा है तो भी प्रतिभास समानाधिकरण होनेसे प्रतिभासनसे कुछ अन्तर नहीं है, अतएव प्रतिभास स्वरूप परम पुरुषसे भिन्न अन्यापोह नहीं। और, वह शब्दज्ञान अथवा अनुमानज्ञान भी प्रतिभासमात्र होनेसे पुरुषसे अन्य नहीं। न तो अन्यापोह प्रतिभाससे पृथक् है और अन्यापोहका ज्ञापक शब्दज्ञान और अनुमानज्ञान भी प्रति-

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

भास स्वरूपसे भिन्न नहीं है।

अन्यापोहवादकी ओरसे विधिवादके पक्षका निराकरण—अब उक्त शका होनेपर समाधानमें कहते हैं कि फिर तो इस समय उपनिषद्वाक्य अथवा प्रतिभास स्वरूपको सिद्ध करने वाला अन्य कोई चिन्ह या साधन भी कैसे सिद्ध हो सकता है ? वह भी प्रतिभासमात्रसे जुदी चीज नहीं रह सकती। और, जब लिंग और उपनिषद् वाक्यमें जुदे न ठहरे तब फिर प्रतिभास स्वरूपकी, ब्रह्मस्वरूपकी प्रतिपत्ति बुद्धिमानोंके द्वारा कैसे समझी जा सकती है ? इस कारण एकान्त करना कि जो कुछ भी है वह प्रतिभास स्वरूप होनेसे परम पुरुषमात्र है। चाहे अन्यापोह हो या अन्य कुछ हो, ऐसा माननेपर तो प्रतिभास स्वरूपकी भी सिद्धि नहीं हो सकती। शंकाकार कहता है है कि उपनिषद् वाक्य अथवा प्रतिभास स्वरूपको सिद्ध करने वाला कोई साधन लिंग परम ब्रह्मकी ही तरङ्ग है और तरङ्ग तरङ्गीको अभेद पसे ही माना गया है। उन तरङ्गोंके द्वारा तरङ्गी परम पुरुषका ज्ञान भी कर लिया जाता है। ऐसा कहने पर समाधानमें कहा जाता है कि यदि परम ब्रह्मसे अभेदरूपसे परिकल्पित वितर्कसे उपनिषद वाक्य अथवा लिङ्गसे यदि परम ब्रह्मकी प्रतिपत्ति मान ली जाती है तो इसका तात्पर्य यह हुआ ना, कि परिकल्पित वाक्यसे प्रतिपत्ति मानी। तो भला यह तो बतलाओ कि परिकल्पित वाक्यसे अथवा लिंगसे पारमार्थिक परम ब्रह्मका ज्ञान कैसे किया जा सकता है ? यदि परिकल्पित साधनसे पारमार्थिक साध्यकी प्रतिपत्ति मान ली जाती है तब तो एक परिकल्पित धूमसे चाहे वह भाप हो, मायामयी धूम हो या उस जातिका अँधेरा हो, किसी भी प्रकारके परिकल्पित धूमसे पारमार्थिक अग्नि आदि अनेक साधनोंकी प्रतिपत्ति हो जायगी। शंकाकार कहता है कि उपनिषद वाक्य और परम ब्रह्मत्वको सिद्ध करने वाला लिंग पारमार्थिक ही है, वह परम ब्रह्म स्वरूप होने से पारमार्थिक ही कहा जाता है। तो समाधानमें कहते हैं कि तब तो फिर जैसे उपनिषद वाक्य और लिंग पारमार्थिक माना है और साध्य भी पारमार्थिक माना है तो ये सब लिङ्ग अथवा साधन साध्यसम हो गए। जैसे कोई कहे कि यहाँ अग्नि है, अग्नि होनेसे तो यह साध्यसम कहलाया। यह अनुमानकी विधि न हुई पारमार्थिक परम ब्रह्मकी सिद्धि करनेके लिए पारमार्थिक ही वाक्य लिङ्ग साधन मान लिया गया तो वह साध्यसम हो गया। फिर वह पारमार्थिक पुरुषद्वैतकी, परम ब्रह्मका कैसे व्यवस्था कर सकता है ? और भी समझिये कि जैसा उपनिषद् वाक्य लिङ्ग प्रतिपाद्य जनों के लिए प्रसिद्ध है उस प्रकारका तो पारमार्थिक नहीं है। जैसे लोग जानते हैं शिष्य आदिक समझते हैं प्रयोगसे वैसा तो पारमार्थिक नहीं है अन्यथा याने इस तरह अगर मान लिया जाय तो द्वैत प्रसंग होगा अर्थात् प्रतिपाद्य जनोंको, लोगोंको इस सम्बन्धमें जिस जिस प्रकारका बोध है वे सब अनेक हैं, फिर परमार्थ अद्वैतकी सिद्धि कैसे होगी? इस कारण परमार्थ सिद्ध चाहने वाले पुरुषोंको पारमर्थिक उपनिषद वाक्य और लिङ्ग मानना चाहिए।

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

परमब्रह्मसिद्धिसाधनभूत लिङ्ग व उपनिषद्वाच्यमें चित्स्वभावत्वका अनवकाश–अब यह देखिये कि उपनिषद्वाच्य और लिङ्ग वे हैं सब अचित्स्व भाव। वाक्य अथवा जो भी साधन परमब्रह्मकी सिद्धिके लिए बताये जायें वे सब उचित स्वभाव हैं क्योंकि चित्स्वभाव यदि इन वाच्योंको और साधनोंको मान लिया जाता है तो फिर यह परसम्वेद्य न रहेगा अर्थात् हम इन साधनोंको दूसरेके लिए समझायें तो दूसरा समझ ही न सकेगा, क्योंकि इन साधनोंको मान लिया चित्स्वभाव, तो जो चित्स्वभाव होता है वह परसम्वेद्य नहीं होता। इस बातको इस तरह भी समझें कि यदि वह वाक्य और साधन चित्स्वभाव मान लिया जाता है तो यह बतलावो कि वह प्रतिपादकके चित्स्वभावरूप है या प्रतिपाद्यके चित्स्वभावरूप है? एक समझाने वाला गुरु है और एक समझने वाला शिष्य है तो समझाने वालेके चित्स्वभावरूप है वह साधन वाक्य या समझने वाले शिष्यके चित्स्वभावरूप है? यदि कहो कि जो समझा रहा है उसके चित्स्वभावरूप है वह साधन और वाक्य तब तो यह दोष स्पष्ट ही है कि उसे दूसरा फिर जान नहीं सकता। जैसे कि प्रतिपादक चेतनके जो सुख उत्पन्न होता है उस सुखका दूसरा तो सम्वेदन नहीं कर सकता। तो इसी प्रकार प्रतिपादकके चित्स्वभाव रूप है यदि वह साधन अथवा वाक्य तो वह दूसरेके द्वारा सम्वेद्य नहीं हो सकता है। यदि कहो कि वह साधन और उपनिषद वाक्य प्रतिपाद्यके चित्स्वभावरूप है, जिसे समझाया जा रहा है और शिष्य समझना चाहता है उस चेतनके स्वभावरूप है तब तो फिर प्रतिपादकके द्वारा वह सम्वेद्य नहीं हो सकता जब वह साधन और वाक्य शिष्यके चित्स्वभावरूप बन गया तो उसे अन्य कोई क्या सम्वेदन करेगा? तो प्रतिपादकने जब उस साधन और वाक्यका सम्वेदन ही न कर पाया तो समझानेकी बात ही क्या रह सकती है यदि? कहो कि परम ब्रह्मस्वरूपकी सिद्धि करने वाला लिङ्ग और वाक्य दोनों के चित्स्वभावरूप है और प्रतिपाद्यके भी चित्स्वभावरूप है। ऐसा माननेपर फिर जो अन्य प्राश्निक लोग हैं, उनके द्वारा सम्वेद्य न हो सकेगा। जैसे कि प्रतिपादकका सुख और प्रतिपाद्यका सुख इसको प्राश्निकलोग क्या जानें? उसके प्रतिपादक और प्रतिपादन में जैसे प्रतिपाद्यका सुख नहीं आ सकता इसी प्रकार प्रतिपाद्य और प्रतिपाद्यके चित्स्वभावरूप जो साधन है, वाक्य है वह भी अन्य लोगोंके सम्वेदनमें नहीं आ सकता है।

परमब्रह्मसिद्धिसाधनभूत साधन व वाक्यको सफलजनचित्स्वभावरूप माननेपर प्रतिपादक प्रतिपाद्य प्राश्निकादि भेदोंकी असिद्धि होनेसे पठन पाठनादिव्यवहारका लोप–यदि कहो कि फिर यह मान लीजिये कि वह साधन और वाक्य जो परमब्रह्मकी सिद्धिके लिए उपस्थित किया गया है समस्त मनुष्योंके चित्स्वभावरूप है अर्थात् प्रतिपादकके चित्स्वभावरूप है, प्रतिपादके चित्स्वभावरूप है और प्राश्निकोंके लिए चित्स्वभावरूप है। समाधानमें कहते हैं कि ऐसा माननेपर तो प्रतिपादक, प्रतिपाद्य दर्शक आदिक भेदोंकी उत्पत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि परमब्रह्मस्वरूप सिद्धिके लिए उपस्थित किया गया साधन अथवा श्रुतिवाक्य जब सभीके चित्स्व-

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

भाव रूप बन गया तो अविशेषता हो गयी, उनमें कोई अब अन्तर न रहा। फिर यहाँ यह भेद कैसे हो सकता है कि यह प्रतिपादक है, यह प्रतिपाद्य है और यह प्राश्निक है। शंकाकार कहता है कि प्रतिपाद प्रतिपाद्यक आदिक जो भेद हैं वे तो जो भेद है वे तो अविद्या से उपकल्पित हैं, इस कारण कोई दोष नहीं हैं। तो इसके समाधानमें कहते हैं कि तब तो फिर जो ही प्रतिपादककी अविद्या है और वह प्रतिपादकपनेसे कल्पना कराती है तो अविद्यातो यही है ना? एक सो वही अविद्या प्रतिपाद्यके भी और प्राश्निक लोगोंमें भी समानरूपसे है तब उनमें भी प्रतिपादकत्वकी कल्पना करा दे। अर्थात् जब अविद्याने ही यह कल्पना करायी है कि यह समझाने वाला है यह समझने वाला है और ये प्राश्निक लोग हैं तो यह बतलावो कि अविद्यातो सबपर छायी है, अथवा समझने वालेकी अविद्या तो सबमें अविशेष है फिर इस अविद्याने प्रतिपादकमें ही क्यों कल्पना कराई है कि यह प्रतिपादक है? प्रतिपाद्यमें और उन दार्शनिकोंमें क्यों नहीं कल्पना करा देती कि यह प्रतिपादक है? अटपट उल्टे सीधे कल्पनायें क्यों नहीं करा बैठती? तथा जब प्रतिपादक प्रतिपाद्य और दार्शनिक आदिकमें भेद नहीं है तो अविद्यामें भी अभेद हो जायगा और अविद्यामें यदि भेद मानते तो फिर प्रतिपादक आदिक में भी भेद बनेगा। तो क्या अविद्याओंमें भेद है? हाँ अगर भेद मान लेते हो अविद्यामें तो भेद व्यवस्था बनायी जायगी। शंकाकार कहता है कि अनादिकालीन अविद्यासे ही यह कल्पना हुई है या रची गई है अविद्या? और, उसमें जो भेद है वह पारमार्थिक नहीं है। अविद्याओंका भेद भी अनादि अविद्यासे उपकल्पित है। पारमार्थिक नहीं है। समाधानमें कहते हैं कि फिर तो परमार्थसे अभिन्न रही अविद्या। अविद्यामें भेद अविद्यासे ही उपकल्पित किया गया है तो इसका भाव यह रहा कि अविद्यामें अविद्याने ही भेद किया है, परमार्थसे भेद नहीं है। और, जब परमार्थसे अविद्यामें भेद न रहा तो वहीं सांकर्य प्रसंग होता है कि प्रतिपादक प्रतिपाद्य दार्शनिक आदिक सभी लोग एक बन बैठे और जब सब एक हो गए तो वहां यह भेद नहीं बन सकता कि यह समझाने वाला है और ये समझाने वाले हैं और फिर कौन ब्रह्मस्वरूप को समझायेगा कौन समझेगा?

प्रतिपादकादिभेद करने वाली अविद्याको अविद्योपकल्पित माननेपर प्रतिपादिकादिभेदकी पारमार्थिकता सिद्ध होनेसे पुरुषाद्वैतकी सिद्धिकी वाञ्छितता—अब शंकाकार कहता है कि अविद्या भी प्रतिपादक आदिकमें अविद्याकी उपकल्पना करनेसे बनी है। इस कारण अविद्या भिन्न है अथवा अभिन्न है इन विकल्पों को नहीं सह सकती, याने अविद्या नीरूप है उसकी कोई मुद्रा ही नहीं। उसकी कोई वजूद ही नहीं, अस्तित्व ही नहीं, केवल प्रतिपादकों आदिकमें अविद्याकी कल्पना हुई है। उससे अविद्या मानी गई है सो वह अविद्या भिन्न है अथवा अभिन्न है? इन विकल्पोंमें नहीं आ सकती। सो समाधानमें कहते हैं कि फिर तो बलपूर्वक यही सिद्ध हुआ ना कि प्रतिपादक आदिक पारमार्थिक हैं, क्योंकि जब अविद्या भी अविद्यासे उप-

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

कल्पित हो गयी यह समझाने वाला है इस प्रकारका भेद होना अविद्या मान ली गई और इस अविद्याकी कल्पना भी अविद्यासे हुई, तब अविद्या भी असिद्ध है। इसका अर्थ है कि अविद्या कुछ नही वे प्रतिपादक आदिक वास्तविक हैं और अविद्याकी अविद्याकल्पित माननेपर विद्याघनकी विधि अवश्यंभावी है, याने प्रतिपादक गुरु प्रतिपाद्य शिष्य ये सब पारमार्थिक सिद्ध होते हैं और इस तरह प्रतिपादक आदिकसे भिन्न उपनिषद वाक्य हैं। यदि प्रतिपादक आदिकसे भिन्न उपनिषद वाक्य न माना जाय तो एक साथ सभीका सम्वेदन नही हो सकता तो इससे सिद्ध हुआ कि परमब्रह्मकी सिद्धि करने वाले उपनिषद वाक्य अथवा साधन ये बहिर्वस्तु हैं अचित्स्वभाव हैं घट आदिक की तरह। तब प्रतिभासाद्वैतकी सिद्धि नही हो सकती। जैसे परम ब्रह्मकी सिद्धि करने वाला साधन वाक्य यह वास्तविक है, पृथक है इसी प्रकार घट पट आदिक ये समस्त पदार्थ भी पृथक् हैं। फिर प्रतिभासाद्वैतकी व्यवस्था नही बन सकती। एक मात्र परमब्रह्म ही है, इसकी सिद्धि नही हो सकती। प्रतिभास भी है, अगर प्रतिभास्य कोई भिन्न पदार्थ नही है तो प्रतिभास स्वरूपकी सिद्धि भी नही की जा सकती है।

कथंचित् भेदमें ही समानाधिकरण्यकी उपपत्ति होनेसे प्रतिभासाद्वैतकी असिद्धि— स प्रसंगमें विशेष यह भी एक बात है कि प्रतिभास समानाधिकरणपना कथंचित् भेदमें रह सकता है। यह कहना कि जो प्रतिभास समानाधिकरण है वह प्रतिभासमें ही सामिल है। प्रतिभाससे अन्य कुछ नही है। यहाँ ऐसी हठ करने की बात बनती नही। कि प्रतिभास समानाधिकरण भी प्रतिभाससे भिन्न रहे। प्रतिभास अलग है, प्रतिभास अलग है। ऐसा भेद होनेपर भी प्रतिभास समानाधिकरणपना रह सकता है। जैसे कि कहा जाता है कि घट प्रतिभासित हो रहा है तो प्रतिभास करने वाला पुरुष घटको प्रतिभासमें ले रहा तो यहाँ दोनों चीजें भिन्न है और प्रतिभास समानाधिकरण बन गया जो ऐसा कहा जाता है कि घट प्रतिभासित होता है वह प्रतिभासका विषय है। तो यह तो विषय और विषयीके अभेद उपचारसे कहा जाता है। जैसे कि एक किलो अनाजको लोग कह देते हैं कि यह एक किलो है तो वह किलोमें और किलोके बराबर हुए अनाजमें अभेदका उपचार किया गया है। और तब कहा गया है कि यह एक किलो है। एक किलो तो है जो लोहा पीतलका है वही है। जैसे केला बेचने वालेको लोग केला ही कहकर पुकारते हैं ऐ केला आवो, तो वह केलामें और केला वालेमें सम्बन्धके कारण अभेदोपचार किया गया है। इस कारण उपचरित समानाधिकरणसे अथवा याने उपचारसे माने गए समानाधिकरणसे अथवा याने उपचारसे उपचरितमें एकत्वकी सिद्धि सर्वथा नही होती। याने जैसे केलामें और केला वालेमें उपचारसे समानाधिकरणत्व माना और उसे भी केला कहकर ही पुकारा तो इससे कहीं केला और केला वालेमें एकत्वकी सिद्धि न हो जायगी। फिर कोई पूछे कि मुख्य समानाधिकरणपना फिर कैसे सिद्ध हुआ? तो उत्तरमें कहते कि ज्ञान प्रतिभासित होता है। इस व्यवहारमें मुख्य समानाधिकरण है अर्थात् प्रति-

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

भासने वाला भी ज्ञान है और प्रतिभासमें आया हुआ भी ज्ञान है तो एक ही आधार हुआ दोनोंका, एक ही वस्तु हुआ दोनोंका, एक ही वस्तु हुआ दोनोंका स्रोत्र, उसे समामाधिकरणपना यह बनेगा कि सम्वेदन प्रतिभास रहा है। इसमें मुख्य समानाधिकरण्य नहीं है, उपचारसे हैं। घट-घटकी जगह है, ज्ञान ज्ञानज्ञानकी जगह है। भिन्न वस्तु है विषयी भावके कारण उपचारसे कहा गया है यह कि घट ज्ञानका विषय है। और मुख्यतया देखा जाय तो घटा कर जो सम्वेदन है वह ज्ञानका विषय है। इसी कारण व्याधिकरणपनेका व्यवहार यह भी यह गौण माना जायगा कि यह सम्वेदन का प्रतिभासन है। व्याधिकरणका व्यवहार यह तो मुख्य मान लिया जायगा कि यह घटका प्रतिभासमान है याने घटका आधार दूसरा है प्रतिभासका आधार दूसरा है। भिन्न भिन्न दो होनेपर भी यह घटका प्रतिभास है। इसमें समानाधिकरण्य तो उपचारसे है और व्याधिकरणत्व मुख्यतासे है और सम्वेदन प्रतिभास रहा है, यहां समानाधिकरण्य मुख्यतासे हैं और यह सम्वेदनका प्रतिभास है। यहां व्याधिकरणपना गौण है। इस तरह कथंचित् भेदके बिना समानाधिकरण भी तो नहीं बन सकता। इस कारण प्रतिभास और प्रतिभासमें कथंचित् भेदकी सिद्धि है। एकमात्र सर्वव्यापी ब्रह्म है। वह प्रतिभास स्वरूप है उसके अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है। यह बात नहीं बन सकती।

कथंचत् भेद व कथंचित् अभेदमें ही समानाधिकरण्यकी उपपत्ति— जैसे कि सफेद कपड़ा है यह कहा, अब यदि सफेद और कपड़ा ये दोनों सर्वथा अभिन्न हो जायें तो समानाधिकरणपना नहीं बन सकता। जैसे कपड़ा—कपड़ा इसमें क्या समानाधिकरणपना है ? क्योंकि यह तो सर्वथा एक है, सर्वथा एकमें समानताका व्यवहार भी नहीं किया जा सकता, सो सर्वथा एकमें समानाधिकरणपना नहीं बनता। इसी तरह सर्वथा अभेदमें भी समानाधिकरणपना नहीं बनता। जैसे हिमालय और समुद्र ये अत्यन्त जुदे हैं, वे कहां एक समानाधिकरणमें आ सकते हैं ? इससे मानना चाहिए कि कथंचित् भेद हो वहां ही समानाधिकरणपना बनाया जा सकता है। यों एकमात्र यह सारा विश्व परम ब्रह्म ही है, इसकी सिद्धि नहीं हो सकती है। पुरुषाद्वैतवादी याने जो मात्र ब्रह्मको मानते है उनका कहना यह है कि जो कुछ भा है वह प्रतिभासके अन्दर शामिल है, प्रतिभासमात्र है, प्रतिभाससे अन्य कुछ नहीं है। तब एक पुरुषमात्रकी ही सत्ता चाहने वालेसे यह पूछा गया कि तुम्हारा वह ब्रह्म (पुरुष) प्रमाण है या प्रमेय ? वह ब्रह्म (पुरुष) प्रमाणस्वरूप है तो फिर प्रमेय बतलाओ कि क्या है ? क्योंकि प्रमेयके बिना प्रमाणका स्वरूप कुछ नहीं रहता। कोई चीज ज्ञेय हो तब तो ज्ञानका स्वरूप बनेगा। तो प्रमेय कुछ हो तब प्रमाणका स्वरूप बनेगा और तुम मानते हो कि सब कुछ एक ब्रह्म है और वह प्रमाणरूप है तो प्रमेयके बिना प्रमाण क्या बनेगा ? यदि यह कहो कि प्रमाणका जो स्वरूप है वही प्रमेय है, ज्ञान का जो स्वरूप है वही ज्ञेय है, वही प्रतिभासमात्र एक ब्रह्म, वही ज्ञाता, वही ज्ञेय है,

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

तब फिर एक ब्रह्म कहाँ रहा ? उस तुम्हारे एक ब्रह्ममें दो रूप आ गए। वही प्रमाण रूप भी बना, प्रमेयरूप भी बना। अब सर्वथा एकत्व तो न रहा। और, जब ब्रह्मरूप में दो रूप आ गए तब फिर पदार्थमें यों दो रूप क्यों नही मान लेते ? स्वचतुष्टयसे सत् है, परचतुष्टयसे असत् है अथवा पदार्थमें अपना स्वभाव है और अन्यका अपोह है, क्षणिकवादी अन्यापोह मानता है कि शब्दका अर्थ अन्यापोह है। जैसे कहा घट तो इसका अर्थ है कि अघट नही है। तो शब्दमें फिर अन्यापोह अर्थको क्यों मना किया जाता है ? केवल विधिरूप ही क्यों मानते हो ? इसपर बहुत शङ्का–समाधान होते–होते अन्तमें यह बात निकली कि सर्वथा यदि कोई भिन्न है तो उसमें समानाधिकरण नही बनता, समानाधिकरणकी बुनियादपर ही वस्तु एक माना जाता है। जैसे सफेद कपड़ा। तो सफेदका जो आधार है वही कपड़ेका आधार है। एक आधार होवे तो उसे एक माना जाता है। तो समानाधिकरण सर्वथा भिन्न चीजोंमें नहीं होता। जैसे हिमालय और विन्ध्याचल ये सर्वथा अभिन्न हैं, इनमें समानाधिकरण न होगा और, सर्वथा अभेद हो, एक हो वहाँ भी समानाधिकरण नही बनता। जैसे पट और पट, कपड़ा और कपड़ा उसमें क्या समानाधिकरण ?

प्रतिभास्यकी अर्थान्तिरता व शब्दकी अन्यापोहनपूर्वक प्रवर्तकता होने से श्रुतिवाक्यके प्रमाणरूप—विधि अर्थकी असंगतता प्रतिभासमान जो अन्यापोह है वह चाहे प्रतिभास समानाधिकरण है, लेकिन प्रतिभास भेदसे उसमें भेद है, यह बात सिद्ध हुई ना ? तब फिर शब्द अन्यापोहको भी विषय करने वाला हुआ। घट बोला तो घटका विषय यह भी हुआ कि अघट नहीं है और घटका विषय घट है यह तो मान ही रहे हो तब फिर शब्दको केवल विधि विषयक ही बताना यह कैसे सिद्ध हो सकता है ? ब्रह्मवादका यह सिद्धान्त है कि जो कुछ उपदेश किया गया है अर्थ उसका एक परम ब्रह्म है। जैसे कहा कि स्वर्गकी चाह करने वाला यज्ञ करे तो इस का अर्थ क्या है ? इसका अर्थ है परम ब्रह्म। क्योंकि इसमें एक चेतनकी बात कही है और वह ब्रह्मस्वरूप है। तो कुछ भी शब्द हो, कोई भी वाक्य हो कितने भी ग्रन्थ हों, उन सबका अर्थ एक परम पुरुष है, ऐसा केवल एक विधिको ही विषय करने वाला शब्द है यह मानने वालेके प्रति दोष दे रहा है क्षणिकवादी कि शब्दका अर्थ केवल विधि विषय ही कैसे कहा जा रहा, अन्यापोह भी उसका अर्थ माना। अन्यथा अर्थात् यदि केवल विधिको ही विषय करने वाला मानते हो शब्दको तो फिर शब्दमें यह ताकत कहांसे आयी कि अन्यका परिहार करके किसी एकमें लग जाय। जैसे किसी बालकसे कहा कि इन खिलोनोंमेंसे घोड़ा खिलौना उठा लाओ तो अब वह अन्य खिलोनोंको छोड़ करके उस घोड़ा खिलोनोंको लानेकी प्रवृत्ति करते हैं, तो वह प्रवृत्ति वह तभी तो कर सकता जब उस घोड़ा शब्दका अर्थ यह भी हुआ कि अन्य खिलौना नहीं। तो जब शब्दार्थ विधिको ही बताते, फिर तो शब्दका परिहार करके किसी एकमें प्रवृत्ति कराते, यह बात नही बन सकती। अतः केवल विधि ही शब्दका

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

अर्थ है, विषय है यह बात युक्ति संगत बनेगी। यदि विधिको ही प्रमाणपना मानते हो कि जो वाक्य बोला है, श्रुतिवाक्य कि स्वर्गका भी पुरुष यज्ञ करे। इस वाक्यका अर्थ केवल ब्रह्मस्वरूप मानते हैं और उसे मानते हो प्रमाणरूप तो फिर प्रमेय बताना चाहिए। उस हीको प्रमेय कल्पना करनेपर जैसे उस विधिमें दो रूप आ गए प्रमाण रूप और प्रमेयरूप तो ऐसे ही शब्दमें भी दो रुप आ पड़ेंगे। अन्यापोहरूप अर्थ और विधिरूप अर्थ। यदि शब्दका अर्थ अन्योपोह नही मानना चाहते तो अपना पूर्वपक्ष बताइते कि ब्रह्मको प्रमाणरुप माननेपर फिर अन्य प्रमेय क्या होगा ? इसमें यह पक्ष युक्तिसंगत न रहा कि श्रुतिवाक्यका अर्थ विधिरुप है, ब्रह्मस्वरुप है। पुरुषाद्वैतमात्र है और वह प्रमाणरूप है।

प्रमेयरूप विधिको भी श्रुतिवाक्यार्थ माननेकी असंगतता— यदि कहो कि वह विधि प्रमेयरुप है तो प्रमेयरुप कल्पना करनेमें भी तो यह बताना चाहिए कि प्रमाण फिर क्या है ? सब कुछ एक ब्रह्म है और उसे कहते हो प्रमेयरुप तब फिर प्रमाण बताइये। प्रमाणके बिना प्रमेय क्या चीज होगी ? उस हीको प्रमाणरूप कहो, उसे ही प्रमेयरूप कहो। यहां एक ब्रह्ममें ये दो स्वभाव नही हो सकते क्योंकि जो सर्वथा अपरिणामी है, एक स्वभावी है उसमें दो रूप न आयेंगे। यदि कहो कि कल्पना के वशसे हम उस प्रमेयरुप विधिको, प्रमेयरुप परमब्रह्मको प्रमाणरुप मान लेंगे तो ऐसे विकल्पमें अन्यापोहवादका सम्बन्ध आ जाता है। अर्थात् जैसे एक ब्रह्मको जो कि प्रमेयरुप है उस हीको मान लिया प्रमाणरुप तो जब दो रुप आ गए तो शब्दका अर्थ भी दो रूप क्यों नहीं मान जायगा कि शब्द द्वारा किसी बातका अस्तित्व बताना है और अन्य बातोंका परिहार करना है। अतः श्रुति वाक्यका अर्थ परमब्रह्म है और वह प्रमेयरूप है यह विकल्प युक्ति संगत नहीं होती।

प्रमाण प्रमेयोभयरूप व अनुभयरूप विधिको भी श्रुतिवाक्यार्थ मानने की असंगतता—श्रुतिवाक्यके परिकल्पित अर्थभूत विधिको, ब्रह्मस्वरूपको प्रमाण प्रमेयोभय मानना भी असंगत है। क्योंकि श्रुतिवाक्यका अर्थ प्रमाणरूप ब्रह्म माननेपर जो दोष दिया और प्रमेयरूप ब्रह्म माननेपर जो दोष दिया वे सब दोष उभयरूप मानने पर आते हैं अतः श्रुतिवाक्यका अर्थ ब्रह्मरूप है और वह प्रमाण प्रमेय दोनों रूप है यह पक्ष भी सगत नही बैठता। इसी प्रकार श्रुति वाक्यके अर्थ विधिको अनुभयरूप माना जाय अर्थात् वह न प्रमाणरूप है न प्रमेयरूप है तो ऐसी कल्पनामें तो गधेके सींगकी तरह अवस्तु ही रहा वाक्यार्थ। जो बात न ज्ञानरूप है न ज्ञेयरूप है, न प्रमाणरूप है न प्रमेयरूप है, तो फिर रहा क्या ? असत्, अवस्तु। क्योंकि वह परम ब्रह्म प्रमाण स्वभावसे रहित हो और प्रमेय स्वभावसे रहित हो तो इसके अतिरिक्त अन्य स्वभाव की कोई व्यवस्था नही बनती। जब वह परम ब्रह्म न प्रमाणरूप रहा न प्रमेयरूप रहा तो उसमें फिर स्वभाव ही क्या रहा ? असत् हो गया। और, प्रमाण प्रमेयस्वभाव

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

रहित ब्रह्ममें यदि कुछ व्यवस्था ही बनाते हो तो फिर अटपट व्यवस्था बनेगी। कहो प्रमातामें प्रमेयपना सिद्ध हो जाय, प्रमेयको प्रमाणपना सिद्ध हो जाय, जिस चाहेको जो चाहे कह दिया जाय। जब वह निःस्वभाव है, उसमें कोई स्वभाव ही नहीं है तो उसमें क्या व्यवस्था ? जब प्रमाणपना न रहा यो वह वस्तु ही कुछ न रही। अतः विधिको न प्रमाणरूप सिद्ध किया जा सका न प्रमेयरूप न उभयरूप और न अनुभय रूप सो श्रुतिवाक्यका अर्थ विधिरूप, ब्रह्मस्वरूप मात्र करना अयुक्त है।

शब्दरूप, अर्थरूप, उभयरूप, अनुभयरूप भी विधिकी असिद्धि होनेसे श्रुतिवाक्यको अर्थ विधिरूप ब्रह्मस्वरूपमात्र माननेकी असंगतता—अब शंकाकार कहता है कि श्रुतिवाक्यका अर्थ है तो विधिरूप कुछ भी कहा जाय–अमुक कर्तव्य करना चाहिए इसका अर्थ क्या हुआ ? परम ब्रह्म। भोजन करना चाहिए, इसका क्या अर्थ हुआ ? परम ब्रह्म। घूमने जाना चाहिए, इसका अर्थ क्या हुआ ? परम ब्रह्म। कुछ भी बोला गया शब्द है उसका अर्थ हुआ परमब्रह्म क्योंकि जिसने अर्थ लगाया जिसको कहा गया, जिसकी परिणतिके लिये बात कही जा रही है वह सब है चेतन, और चेतन है यह परमब्रह्मरूप। इस तरह श्रुतिवाक्यका अर्थ है ब्रह्मरूप, विधिरूप, किन्तु वह ब्रह्म शब्दव्यापाररूप है। तो उत्तरमें कहते हैं कि तब तो उसका अर्थ शब्द-भावना ही हुआ उसीको ही विधि कहो, ब्रह्म कहो क्योंकि वह तो शब्द व्यापाररूप माना जा रहा है। शब्दकी ही बात रही। यदि कहो कि वह पुरुष व्यापाररूप है तो वह विधि अर्थ भावनारूप हो गई। और, जब विधि न शब्दव्यापाररूप संगत हुआ न पुरुष व्यापाररूप संगत हुआ तो उसे उभय व्यापाररूप कहना भी संगत नहीं हो सकता। और, इसी तरह उसे अनुभय व्यापार रूप भी नहीं कह सकते कि श्रुतिवाक्य का अर्थ है ब्रह्मरूप और वह शब्द व्यापार, पुरुष व्यापार दोनोंसे रहित है। यदि विधि ब्रह्म अनुभय व्यापार वाला है, दोनों व्यापारोंसे रहित है तो यह बताओ कि वह ब्रह्म क्या विषय स्वभावरूप है या फलस्वभावरूप है ? याने जानना है कुछ, करना है कुछ विषय है कुछ ब्रह्म या फलरूप ब्रह्म है ? यदि कहो कि शब्दका अर्थ है ब्रह्म और वह है अनुभयव्यापाररूप तथा विषयस्वभावरूप तो शब्दके बोलनेके समयमें वाक्यकालमें वह तो मौजूद है नहीं तो निरालम्बन शब्दवादका प्रसंग हुआ। याने शब्द बोलते जावो उसका अर्थ कुछ नहीं। यदि कहो कि वह विधि फलस्वभावरूप है तो इसमें भी वही दोष है, क्योंकि जो शब्द बोला उसका अर्थ मानते हो फलरूप, जैसे कहा कि स्वर्गाभिलाषी यज्ञ करें तो इसका अर्थ मानते हो स्वर्गफलरूप तो जिस समय वचन बोला उस समय स्वर्ग कहाँ ? फिर वह शब्दका अर्थ कैसे बना ? क्या कोई शब्दका अर्थ ऐसा होता कि जो न हो और उसका वाचक शब्द बन जाय ? शब्दका अर्थ तो सन्निधानमें होता है, चाहे वह किसीरूप हो। यदि कहो कि निःस्वभावी विधि है, ब्रह्ममें कोई स्वभाव नहीं है और वही है श्रुतिवाक्यका अर्थ तो इसका अर्थ है कि श्रुतिवाक्यका कुछ भी अर्थ नहीं सो पूर्वोक्त प्रतिपादनोंसे निर्णय हुआ कि श्रुतिवाक्यका अर्थ परम-

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

पुरुषरूप मानना अयुक्त है।

ग्रन्थके वक्तव्यका मूल आधार—इस ग्रन्थमें समंत भद्राचार्य आप्तकी मीमांसा कर रहे हैं क्योंकि जितने भी उपदेश हैं, जिसपर हमें चलना है, जब तक हम यह न जान जायें कि उन उपदेशोंका प्रयोग प्रामाणिक आत्मा है, आप्त है तब तक उस उपदेशमें न हमारी आस्था हो सकती और न हम उस उपदेशपर चल सकते हैं, इस कारण धर्मपालन चाहने वालोंको यह निर्णय सबसे पहिले करना होगा कि आप्त कौन है, देव कौन है ? देव, शास्त्र, गुरु इन तीनका सम्बन्ध धर्मपालनमें अनिवार्य है। जब तक देवके देवत्वका परिचय न हो कि यह है समीचीन देव, जब तक यह बात निश्चित न हो तब तक उपदेशमें हमारी आस्था नही बन सकती। अतएव आप्तका निर्णय करना बहुत आवश्यक है और उस आप्तकी मीमांसामें समन्तभद्राचार्यसे मानो (उत्थानिकाकी कल्पनामें) भगवानने कहा कि तुम कहां आप्त ढूंढ़ते हो ? यह मैं हूं आप्त। देखो—मेरे पास देवता आते हैं, मैं आकाशमें चलता हूँ, छत्र चमर हमपर ढुलते हैं, मैं ही आप्त हूं। तो समन्त भद्राचार्य परीक्षा प्रधान होनेसे कहते हैं कि इस कारणसे आप आप्त नहीं हैं, क्योंकि ये बातें मायावी पुरुषोंमें भी पायी जाती हैं। तब फिर मानो भगवानने टोका—फिर समन्तभद्र, हम इसलिए आप्त हैं कि हमारे शरीरमें पसीना, भूख, प्यास, मल मूत्र आदिक नहीं है हमारा पवित्र देह है और देवता लोग पुष्प वृष्टि करते हैं इस कारण हम आप्त हैं, तुम कहां आप्तको ढूंढ़ते फिरते हो ? तो वहां समंतभद्रका यह उत्तर था कि इस कारण भी आप महान नही है। यद्यपि ऐसा देह जो मल, मूत्र, पसीना आदिकसे रहित है, वह मायावियोंमें नही पाया जाता है, लेकिन रागादिमान देवोंमें तो पाया जाता है। जिन जिनके निर्मल शरीर हैं वे वे आप्त हैं ऐसी व्याप्ति बनानेमें देवगतिके जीव भी आप्त बन बैठेंगे। तब तीसरी बारमें मानों भगवानने यह कहा कि फिर हमको इस कारण आप्त समझो कि हमने एक तीर्थ (धर्म) चलाया है। तो उसपर समन्तभद्रका यह उत्तर हुआ कि तीर्थ चलाने वाले तो अनेक महापुरुष हुए हैं, अनेक दर्शन हैं, अनेक सिद्धान्त हैं, अनेक धर्म प्रचलित हैं, उन सबके कोई न कोई प्रणेता यद्यपि आप्त तो है, किन्तु तीर्थ चलानेके कारण आपको किसीको बड़ा माना जाय तो यहाँ यह विसम्वाद है कि तीर्थ चलाने वाले पुरुषोंके और अनेकों उनके ही सिद्धान्तमें परस्पर विरोध है याने एक दूसरेसे भी विरोध है और खुदके ही सिद्धान्तमें पूर्वापर विरोध है। इस कारण तीर्थ चलानेके कारण कोई गुरु नही बन सकता है। फिर भी हम यह मानते हैं कि कोई एक गुरु तो उनमेंसे है ही मगर तीर्थ समुदाय चलाये इस कारणसे कोई आप्त नहीं बन सकता।

श्रुतिवाक्यके अर्थोंका विसंवाद बतानेका मूल प्रसंग—तीर्थंकृत्समयोंमें परस्पर विरोध होनेसे सबके आप्तता नही, यह बात सुनकर मीमांसक सिद्धान्तानु-

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

यायी खुश हो गए और बोले समन्तभद्र तुम बिल्कुल ठीक कहते हो। जितने तीर्थ चलाने वाले लोग हैं उनके प्रणेता सर्वज्ञ नहीं हैं, आप्त नहीं हैं। इसी कारण तो हम कह रहे हैं कि सिर्फ अपौरुषेय वेद ही प्रमाण है। कोई आप्त नहीं कोई देव नहीं। तो पुरुषप्रणीत उपदेश प्रमाण नहीं हो सकता। अपौरुषेय आगम ही प्रमाण है। इसपर समन्तभद्र अथवा उनके भक्तइस हीश्लोकका दूसराअर्थ लग कर मीमांसकका निराकरण करता है। मीमांसकके मतका भी विशेषण बना दीजिये—तीर्थकृत्समय। तो तीर्थकृत् समय मायने तीर्थको नष्ट करने वाला कृत् कृन्तति से भी बनता है तीर्थं कृन्तति छिनत्ति इति तीर्थकृत् जो तीर्थका छेदन करता है उसे तीर्थकृत् कहते हैं उनके समयके मन्तव्य को तीर्थकृत्समय कहते हैं सोजो तीर्थको मानते ही नहीं, उनके सम्प्रदायोंमें भी परस्पर वरोध है, इसलिये उनमें भी प्रमाणता नहीं है। कैसे विरोध है? सो सुनिये। जैसे एक वाक्यबोला गया कि स्वर्गाभिलाषी पुरुष अग्नि होत्र यज्ञकरें तो इसका अर्थ कोई मीमांसक प्रवक्ता तो भावना अर्थ लगता है. कोई इसका एक परमब्रह्म स्वरूप अर्थ लगाता है। लेकिन उन्हींमें परस्पर विरोध है फिर उनका भी सिद्धान्त प्रमाणीक कैसे बना? तो इस प्रसंगमें भावना अर्थ मानने वाला नियोगवादियों का खण्डन कर रहा था। और, नियोगवादका खण्डन करते करते जब एक झलक निकली कि उसका ब्रह्मरूप अर्थ है तो इसपर नियोगवादी यह कह रहे कि चलो भला हुआ। ब्रह्मरूप अर्थ निकल आया तो अब भावनारूप तो न रहा सो भावना अर्थ मानने वाला भट्ट यह सिद्ध कर रहा अब कि श्रुतिवाक्यका अर्थ ब्रह्म (विधि) नहीं है।

प्रवर्तकस्वभाव व अप्रवर्तकस्वभावके विकल्पोंमें भी विधिरूप श्रुति-वाक्यार्थकी असमीचीनता विधिको श्रुतिवाक्यका अर्थ माननेपर अच्छा अब यह बताओ कि वह विधि प्रवर्तक स्वभाव है या अप्रवर्तक स्वभाव है? किसी काममें प्रवृत्ति करा देनेका स्वभाव रखता है या कहीं प्रवृत्ति न करानेका स्वभाव रखता है? यदि कहो कि वह प्रवर्तक स्वभाव है तो जब शब्दमें दूसरेको प्रवृत्ति करनेका स्वभाव पड़ा है तो उस ही वाक्यको मीमांसक सुन रहा, उस हीको बौद्ध सुन रहा। यह वाक्य उस वाक्यको सुनने वाला मीमांसकको ही क्यों प्रवृत्त कराता, बौद्धोंको क्यों नहीं आज्ञा देता? उसमें यदि प्रवर्तक स्वभाव है तो वेदान्तवादियोंकी तरह सौगतोंसे भी प्रवर्तन करानो बन जाय यदि कहो कि सुगत लोग तो उल्टे अभिप्रायके हैं इसलिए शब्द उनको प्रवृत्त नहीं करा पाते। तो उल्टापन तो दोनोंमें हैं। वे भी अर्थमें विवाद करते तथा परस्पर भी विपरीत हैं तो वेदान्तियोंका उपदेश यज्ञमें प्रवृत्ति नहीं कराये, यह भी नहीं कह सकते कि यज्ञको न मानने वाले तो विपरीत हैं और प्रवृत्ति करने वाले विधिवादी नहीं हैं। यह तो पक्षपात मात्र है। इसकी बहिसमें जो कुछ कहेंगे उसका उत्तर बराबर समान हो जायगा। यदि कहो कि वह विधि प्रवर्तक स्वभाव है तो वह वाक्यका अर्थ ही नहीं हो सकता। उस वाक्यका अर्थ जिसको सुनकर श्रोता

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

किसी काममें न लगे। जैसे नियोगवादका खण्डन करते हो अप्रवर्तक कहकर उसी प्रकार इस विधि (ब्रह्म) का भी खण्डन हो जायगा।

प्रसंगकी भूमिका और विधिके विषयमें सत् असत् उभयके अनुभवके प्रष्टव्य चार विकल्प—इस प्रकरणमें यह बात कही जा रही है कि मीमांसकोंके आगममें भी उनसे मानने वाले परस्पर विरुद्ध अनेक अर्थ लगाते हैं। तो जब उन वेदवाक्योंके अर्थ प्रवक्ता परस्पर विरुध लगाते हैं तो परस्पर विरोध होनेसे उनमें भी प्रामाणिकता न रही। उसी सिलसिलेमें नियोगवादी प्रभाकर भावनावादी भट्टसे यह शंका कर रहा कि श्रुतिवाक्यके अर्थपर मीमांसा करते करते जब यह बात झलक उठी कि श्रुतिवाक्योंका अर्थ ब्रह्म स्वरुप है तब फिर श्रुतिवाक्यका अर्थ ब्रह्मस्वरुप है रहा, भावना अर्थ न रहा। तो भट्ट ब्रह्मस्वरूप अर्थका निराकरण करनेके लिए कह रहा है। जैसे कि कहा कि स्वर्गाभिलाषी पुरुष यज्ञ करे अब इसका अर्थ तीन लोग तीन तरहसे लगाते हैं। फिर इन तीनोंमेंसे एक एकके परस्पर अनेक विरोधी हैं। ब्रह्मवादी तो कहता है कि स्वर्गका भी पुरुष यज्ञ करे, इसका अर्थ केवल ब्रह्मस्वरूप है। इसमें केवल ब्रह्मस्वरूप झलका। कौन करे यज्ञ ? वह है चेतन। उसकी बात कही। वह है ब्रह्मरूप। तो सभी वाक्योंका अर्थ ब्रह्मरूप है। तो भावनावादी भट्ट कहता है कि उन सबका अर्थ भावना बनाना है. भावक्रिया है। नियोगवादी यह कहता है कि नियोगार्थ है, वाक्यने किस पुरुषको प्रेरणा की कि कौन यज्ञ करे। उस यज्ञसे वह नियुक्त हुआ नियुक्त मायने कार्यरत। नियोग मायने कार्यका करना रूप अर्थ है। तो जब नियोगवादीने भट्टपर आक्षेप किया कि तब तो श्रुतिवाक्यका अर्थ ब्रह्मरूप ही रहा तब भट्ट कह रहा है कि यदि श्रुतिवाक्यका अर्थ विधि है तो यह बतलावो कि वह ब्रह्मस्वरूप सत् होता हुआ वाक्यार्थ है या असत् होता हुआ या उभय होता हुआ, या अनुभय होता हुआ ?

सत् असत् उभय अनुभय स्वरूप विधिकी असिद्धि—यदि विधि सत् होता हुआ ही है तो वह फिर किसीका विधेय नहीं हो सकता। यज्ञ करना चाहिए इसका अर्थ माना ब्रह्मस्वरूप और वह है सत्। सत् मायने स्वयं सिद्ध परिपूर्ण। तो जब उस वाक्यका अर्थ सिद्ध हुआ, पूर्ण हुआ तो अब करनेको क्या रहा ? जैसे ब्रह्म स्वरूप, वह करनेकी तो चीज नहीं है क्योंकि वह सत् है। तो जो है वह विधेय क्या ? जैसे कोई कहे कि भातका भात बनाओ एक बार भात पक गया। अब उसका भात क्या बनाना ? जो चीज सिद्ध है उसकी क्या साधना ? बनी बनायी हुई रोटीका फिर दुबारा क्या बनाना ? बन चुकी सिद्ध है, इसी प्रकार श्रुतिवाक्यका अर्थ विधि यदि सिद्ध है तब फिर किसी भी पुरुषके लिए वह करनेको चीज न रही। ब्रह्मस्वरूप की तरह। यदि कहो कि उन वाक्योंसे जो अर्थ निकलता है, स्वर्गका भी यज्ञ करे इस में जो अर्थ निकला वह निकला तो ब्रह्मस्वरूप मगर वह असत् है। यज्ञ करे ऐसा

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

कहकर जो ब्रह्म अर्थ निकला वह असत् है अतएव वह करनेकी चीज है। जो चीज नहीं है उस हीको तो किया जाता है। तो असत् होता हुआ यदि वह विधि है तो भी नहीं किया जा सकता। क्योंकि असत् है। जो सर्वथा असत् है वह क्या किया जाय? जैसे गधेके सींग असत् चीज हैं। वे विधेय तो नहीं हैं इसी प्रकार श्रुतिवाक्यका अर्थ असत् है विधिरुप है तो असत् विधि फिर की नहीं जा सकती। यदि कहो कि वह पुरुष रूपसे तो सत् है और दर्शन आदिक रूपसे असत् है। स्वर्गाभिलाषी यज्ञ करे इस वाक्यमें जो एक स्वरूपार्थ निकला वह स्वरुप ब्रम्हस्वरुपसे जो सत् है परन्तु उसमें यज्ञका अनुष्ठानका, स्वरुपका दर्शन नहीं हो रहा इसलिए असत् है और ऐसा सत् असत्‌रुप विधेय बन जायगा। तो उत्तरमें कहते है कि प्रथम तो इससे यह बात सिद्ध होती है कि ये अपेक्षासे सत् और असत् हुए। सो इसमें स्याद्वादका आश्रय लेना पड़ा। और, यदि सवथा उभयरुप मानते तो वह ही दोष इसमें है जो सत् माननेमें यदि कहो कि श्रुति वाक्यका अर्थ विधिरूप है और वह न सत् है न असत् है अनुभयरूप है तो समाधानमें कहते हैं कि यह बात तो अपने आप विरुद्ध होनेसे खण्डित है। किसी भी चीजको जब यह कहा कि सत् नहीं है तो अर्थ यही तो बनेगा कि वह असत् है। और, जब यह कहा कि वह असत् नहीं है तो अर्थ यही तो निकलेगा कि वह सत् है। सर्वथा सत्‌का निषेध करनेमें सर्वथा असत्‌की सिद्धि होती है और सर्वथा असत्‌का निषेध करनेमें सर्वथा सत्‌की विधि बनती है। हाँ अपेक्षा दृष्टिसे उन दोनोंका निषेध करेंगे, तो इसमें स्याद्वादका आश्रय लेना पड़ा। तो फिर श्रुतिका वाक्यार्थ विधि ही कैसे बना? शब्दोंका अर्थ विधि भी हुआ, अन्यापोह भी हुआ। शब्द सब प्रकारसे अथवा अर्थ रखते हैं इस कारण श्रुत वाक्यका अर्थ विधि ही हो यह बात नहीं बनती। ऐसा भट्ट भावना अर्थका निराकरण न हो जाय इस आशंकासे श्रुतिवाक्यका अर्थ स्वरूप है। इसका निषेध कर रहे हैं।

श्रुतिवाक्यके अर्थरूप विधिके सम्बन्धमें फलरहितता व फलसहितता के विकल्पोंकी मीमांसा और, भी बतलाओ कि वह विधि रहित है या फल सहित है? वेद वाक्योंसे जो अर्थ निकला वह माना है स्वरूपरूप, ब्रम्हरूप, तो वह जो अर्थ निकला वह फलरहित अर्थ है या फलसहित? यदि कहो कि उसका अर्थ फल रहित विधि है तो फिर वह प्रवर्तक नहो हो सकता। जैसे कि फल रहित नियोगको प्रवर्तक नही माना था इसी प्रकार फल रहित विधि भी प्रवर्तक नही हो सकती। यदि कहो कि विषय ही ऐसा है जो पुरुषाद्वैत है, केवल एक स्वरूप ब्रम्ह है उसमें तो कोई भी किसी भी तरहसे प्रवर्तक नही बन सकता है। तो उत्तरमें कहते कि तब तो भाव यही हुआ ना, कि विधि अप्रवर्तक है। तो अप्रवर्तक विधि सर्वथा वाक्यका अर्थ कैसे कहा जा सकता है। जैसे कि अप्रवर्तक नियोगको वाक्यका अर्थ नहीं कहा भट्टने उसी प्रकार अप्रवर्तक विधि भी वाक्यका अर्थ न होगा, अन्यथा अप्रवर्तक होनेसे नियोग भी वाक्यार्थ बन जायगा। फिर तो जब यह वाक्य सुना कि अरे आत्माका ही दर्शन करना चाहिए,

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

आत्माको ही सुनना चाहिए, आत्माको ही जानना चाहिए और आत्माकी ही उपासना करनी चाहिए। इस वाक्यसे सुनने वाला क्या करे ? आत्माके दर्शनमें लगे कि न लगे लगना चाहिये ना, लेकिन कैसे लगे, क्योंकि विधिको अप्रवर्तक मान लिया। ब्रम्ह अप्रवर्तक है अर्थात् किसीको किसी काममें लगाता नही है। श्रुतिवाक्यका अर्थ ऐसा अप्रवर्तक विधि हैं वह किसीको किसी काममें लगाता नही है, तो इन वाक्योंका फिर अर्थ क्या रहा ? और किसलिए इस वाक्यके अर्थका अभ्यास किया जाय? जब आत्मा के देखनेकी प्रवृत्ति हो ही नही सकती, जाननेकी और उसमें मग्न होनेकी प्रवृत्ति हो ही नही सकतीं, क्योंकि श्रुति वाक्यका अर्थ बता रहे हो, अप्रवर्तक विधि ब्रह्मस्वरूप जो कि प्रवर्तन न करे, फिर इन वाक्योंका क्यों अभ्यास करना चाहिए ? यदि कहो कि फलरहित है विधितो इसका अर्थ यह हुआ कि लोककी प्रवृत्ति फल चाहनेके कारण ही होती है। फिर इस विधिकी कल्पना करना व्यर्थ है। जैसे कि बताया गया था कि यदि नियोग फल सहित है तो फलकी चाहसे ही लोगों को यज्ञ आदिकमें प्रवृत्ति हुई, नियोगका कथन करना व्यर्थ है इतसेपर भी यदि विधिको वाक्यका अर्थ मानते हो तो नियोग भी वाक्यका अर्थ क्यों न हो जायगा ?

नियोगकी असिद्धिके सम्बन्धमें विधिवादी द्वारा दिये जाने वाले आक्षेप व समाधान—अब विधिवादी कहता है कि जैसे घट पट आदिक ये अन्य पदार्थके रूपसे याने भिन्नपनेसे प्रतिभासमें नही आते, क्योंकि सर्वं एव ब्रह्म, सब कुछ एक प्रतिभास स्वरूप ब्रह्म है, वहाँ घट पट क्या अलग चीज हैं। तो जैसे घट पट आदिक अन्य पदार्थ रूपसे प्रतिभासमें नही आते। तब इस ही प्रकार नियोज्य मान पुरुष व विषय यज्ञादि और नियोक्तृधर्म अग्निष्टोम इत्यादिरूपसे भिन्नताकी व्यवस्था नही हो सकती इसलिए नियोग वाक्यका अर्थ नही हो सकता। नियोग वाक्यका अर्थ तब बनता जब कोई नियोज्य पुरुष हो अर्थात् जो हुक्म दिया है जो आदेश किया है उसे पालनेके लायक कोई पुरुष हो उसे कहते हैं नियोज्य। जैसे किसीकी नियुक्ति की तो नियोज्य कौन हुआ ? जिसको नियुक्त किया गया और नियोक्ता कौन हुआ ? जिसने उसकी नियुक्तिकी और विषय क्या हुआ कि जिस कामपर नियुक्तिकी। इसी तरह स्वर्गाभिलाषी पुरुष यज्ञ करे तो इसमें नियोज्य कौन हुआ ? स्वर्गाभिलाषी और नियोक्ता कौन हुआ ? वह वेद वाक्य, वही तो लगाये रहता है कि ऐसा करे और नियोज्यमान विषय क्या हुये ? वे अनुष्ठान यज्ञ आदिक कर्म। तो वहाँ विधिवादी यह कह रहा कि नियोज्यमान विषय कुछ नही, नियोज्य मनुष्य कुछ नही और नियोक्ता भी कुछ अलग नही। सब एक ब्रह्मस्वरूप है, पदार्थान्तरपनेसे याने भिन्नपनेसे यह कुछ भी प्रतिभासमें नही है। फिर नियोग वाक्यका अर्थ कैसे बन जायगा ? नियोगवादी उत्तर देता है कि यह बात तो विधिमें भी कही जा सकती है। जब श्रुतिवाक्यका अर्थ केवल ब्रह्मस्वरूप किया जा रहा है तो वहाँ भी पूछ सकते हैं कि घट पट आदिककी तरह विधि भी पदार्थान्तररूपसे प्रतिभासमें नही आ रहा। तब यह विधाप्यमान है मायने

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

हुवाये जाने योग्य है यह अवश्य करणीय है इस प्रकार अभिमन्यमान है और यह विधायक है उसका विधान करने वाला है आत्मा तथा यह विषय है यज्ञादि इत्यादिरूपसे यहां भी यह भेद व्यवस्थित नहीं रह सकता तब विधि वाक्यका अर्थ कैसे बनजायगा?

विधिवादी द्वारा दत्त दूषणका स्मरण—अब इस ही विषयका कि विधिवादमें भी विधाप्यमान विषय और विधायकत्व धर्मकी भेदव्यवस्था नहीं बन सकती, स्पष्टीकरण करते हुए पहिले उनके उदाहरणमें घटित करते हैं। नियोगवादी कह रहा है कि जैसे विधिवादी स्वरूपवादी नियोग वाक्यार्थके सम्बन्धमें यह दोष दे सकते है कि देखो, जैसे कि नियोज्य पुरुषके धर्ममें याने नियोगमें अनुष्ठेयता नही बन सकती, क्योंकि नियोग तो सदा सिद्ध है सो नियोगका सिद्धत्व होनेके कारण फिर उसका अनुष्ठान नही हो सकता। जो चीज सिद्ध है उसका बनाना क्या ? यदि सिद्ध चीज भी बनाई जाय, सिद्धको भी बनानेकी आवश्यकता है, तब फिर उसके बनाये जानेका काम कभी समाप्त ही नही हो सकता। जैसे रोटी सिद्ध है, कोई कहे कि सिद्ध होनेपर भी उसे बनाया जा सकता तो दुबारा बनाये। अब सिद्ध हो गयी फिर भी बनाई जा सकती, सिद्ध हो गई फिर भी बनाई जा सकती यों कभी अनुष्ठानका विराम ही न हो सकेगा। याने जो चीज सिद्ध है उसका भी अनुष्ठान मान लिया जाय तो कभी भी अनुष्ठानका विराम नही हो सकता, क्योंकि सिद्ध कहते ही उसे हैं कि जिसके किसी भी अंशकी असिद्धि न हो। सब बात पूर्णतया बन चुकी हो। और, मानो कि अभी असिद्ध है तो वहाँ कभी नियोज्यत्व हो ही नही सकता, क्योंकि असिद्धमें नियोज्यत्वका विरोध है। जो असिद्ध है उसे कहाँ नियुक्त करेंगे ? कोई कहे कि अमुक कामके लिए आदमीकी जरूरत है तो कहा जाय कि बंध्याके लड़केको नियुक्त कर लो। तो जो असिद्ध है बंध्याका दूध पीने वाला बटा जब कुछ है ही नही तो नियोज्य कैसे कहा जा सकता है ? यदि असिद्ध रूप भी नियोग व नियोज्य हो जाय तो बन्ध्यासुत आदिके भी नियोज्यत्व बन बैठेगा। यदि कहोगे कि सिद्धरूपसे नियोज्यत्व है और अर्थरूपसे उसकी अनियोज्यता है तब एक ही पुरुषमें सिद्ध और असिद्ध दो स्वरूप आ गए। तब उस हीमें यह विभाग नही कर सकते कि यह इस काममें लगाने योग्य है अथवा इस काममें लगाने योग्य नही है। यदि दोनों रूपोंका सांकर्य न मानेंगे तो भेद सिद्ध हो जायगा। नियोज्य और कोई है अनियोज्य और कोई है, फिर आत्मामें सिद्ध रुपपनेका और असिद्ध रूपपनेका सम्बन्ध नही बन सकता, क्योंकि उनका परस्पर कुछ उपकार ही नही है। जब सिद्धरुप व असिद्धरुपको भिन्न-भिन्न मान लिया तो उपकारका अभाव होनेसे सम्बन्ध ही नही रहा। और उपकारकी यदि कल्पना करते हो तो उपकारमें कोई उपकार्य होता है। जिसका उपकार किया जाय, उपकार किया जाने योग्य हो उसको उपकार्य कहते हैं। यदि आत्मा उपकार्य है तब फिर आत्मा नित्य नही रहा। आत्मा यदि सिद्ध रुप है तो वह उपकार्य हो नहीं सकता। यदि असिद्धरुपको उपकार्य मानते हो तो जो जो असत् है, आकाश फूल, गधेके सींग आदि ये सब भी

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

उपकार्य बन जायें। सिद्ध और असिद्धरूपको भी यदि कथंचित् असिद्धरूप मानते हो तो प्रकृत प्रश्नकी निवृत्ति न हो सकनेसे कोई व्यवस्था नहीं बनता। सो वहाँ अनवस्था दोष आता है। यदि यह उपालम्भ भट्ट नियोगवादियोंको दे रहे अथवा स्वरूपवादी ब्रह्मवादी यह दोष नियोगवादियोंको दे रहे तो नियोगवादी कहता है कि ये ही सब बातें स्वरूपवादमें भी लगनेसे ब्रह्मस्वरूप भी निराकृत हो जाता है अर्थात् श्रुतिवाक्यों का अर्थ ब्रह्मस्वरूप नहीं, यह सिद्ध हो जाता है। अथवा भावनावादी भट्ट कर रहे हैं कि जैसे नियोग अर्थमें व्यवस्था नहीं बनती ऐसे ही विधि अर्थमें भी व्यवस्था नहीं बनती। विधिवादमें विधिनियोजनकी व्यवस्था कैसे नहीं बनती, इस मर्मको अब सावधान होकर सुनो।

विधिवादके आक्षेप देनेका समाधान—जैसे कि नियोगपक्षमें नियोज्यत्वादिका विरोध है ऐसे ही विधायमान पुरुषके धर्ममें याने आत्मका दर्शन श्रवणादि अवश्य करणीय है ऐसी अभिमन्यतामें भी सिद्ध पुरुषके दर्शनश्रवणमननादि नियोजन का विरोध है। जैसे पढ़ना, तो पढ़ना यह सिद्ध करनेमें कोई पठ्यमान होना चाहिए, कोई पाठक होना चाहिए और पाठ्य विषय होना चाहिए। तीनके बिना पढ़ना नहीं बनता। कुछ भी प्रवृत्ति हो, तीनके बिना नहीं बनता। नियोक्ता, नियोज्य, नियोज्यमानका विषय। व्यापारमें भी कुछ काम कराना है किसीको वहां भी ये तीन बातें आयेंगी। नियोक्ता हुआ वह कर्मका मालिक और नियोज्य हुआ कोई सेवक और नियोज्यमान विषय हुआ वह सब काय जिसको कि सम्पन्न करना है। विधिको भी कहा है कि जो विधि है, विधान है, अस्तित्व है, एकस्वरूप है उसीको तो विधि कहते हैं। तो उस विधिमें भी विधाप्यमान पुरुष और विधायक कोई वाक्य और विधि समान विषय, वहां भी तीन बातें होनी चाहिएँ। तो विधाप्यमान पुरुषके धर्ममें विधि में भी यह बात कही जा सकती कि वह पुरुष सिद्ध है, निष्पन्न है तब फिर उसमें क्यों कहते हो कि दर्शन करो, श्रवण करो, मनन करो ध्यान करो ? वह पुरुष तो पूरा ही है। जिस पुरुषको, श्रुति वाक्यसे समझा रहे हो कि आत्माको देखो, आत्मा को सुनो, आत्माको जानो। तो जिसको कह रहे हो वह तो सिद्ध पुरुष है। तब दर्शन श्रवण मनन, ध्यान इन सबका विरोध है। कहना ही न चाहिए और यदि उनका विधान करते हो याने सिद्ध पुरुषके भी दर्शनका श्रवणका विधान बता रहे हो तो उस श्रमका कहीं उपरम, विश्राम भी न हो सकेगा याने निर्विकल्प होना यह स्थिति कोई पा हो न सकेगा। जब सिद्ध हुएको भी अभी कुछ बनानेका काम बताया जा रहा तो बननेसे बाद भी याने सिद्ध होनेके बाद भी फिर बननेका काम पड़ा। फिर कभी भी दर्शन श्रवण आदिक विधानोंका विराम हो ही न सकेगा। यदि कहो कि विधिरूपसे तो है वह ब्रह्म, पुरुषरूपसे तो है वह स्वरूप, श्रुतिवाक्यका अर्थ, लेकिन दर्शन आदिक रूपसे वह असिद्ध है। तो कहते हैं कि जब दर्शन ही नहीं हो रहा तो उसका विधान भी नहीं किया जा सकता। जो चीज दिखती नहीं उसका निर्माण

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

क्या हो सकता ? जैसे कछुवाके रोम । कछुवाके रोम जो दिखते ही नहीं हैं तो उनका क्या करेंगे ? कोई कहे कि कछुवाके रोमोंकी ब्रुस बना लो । तो उसमें किसीकी प्रवृत्ति है क्या ? दर्शन ही नहीं है, तो इसी तरह उस विधि ब्रह्मस्वरूपको दर्शनकी दृष्टिसे असिद्ध मानते हो तो उसका विधान नहीं बन सकता । यदि कहो कि सिद्धरूपसे तो विधाप्यमान पुरुषका विधान है और असिद्धरूपसे अविधान है । तो इसके उत्तरमें सुनिये ! अब उसमें दो रूप आ गए—सिद्धरूप और असिद्धरूप सो दोनोंका सांकर्य हो गया । अब वहाँ विभाग न बन सकेगा कि यह सिद्धरूप है अथवा असिद्धरूप है ? उन दोनों रूपोंमें यदि सांकर्य न मानेंगे तो भेद बन गया । फिर सिद्धरूप अलग रहा, असिद्धरूप अलग रहा । अब उसका एक पुरुषमें संबंध नहीं बन सकता ।

तीर्थंकृतसम्प्रदायमें परस्पर विरोधकी एक प्रासंगिक दृष्टि—और भी अन्य बात देखिये, हे विधिवादी ! जैसे कि नियोग धर्मके परिचयकी अशक्यताका दूषण यों दिया गया था कि योगरूप विषयके नियोगमें निष्पन्नता नहीं है, सिद्धि नहीं है तो इसका अर्थ है—स्वरूपका अभाव है । फिर वाक्यके द्वारा नियोग अर्थ कैसे जाना जा सकता है ? यह दूषण विधिमें भी समानरूपसे है । फिर श्रुति वाक्यका अर्थ विधि भी कैसे बन सकता है ? यदि श्रुति वाक्यका अर्थ नियोग नहीं बनता है तो श्रुति वाक्यका अर्थ विधि भी नहीं बनता, भावना भी नहीं बनता । तब देखो कि अपौरुषेय आगमकी दुहाई देकर जो प्रामाणिकता सिद्ध करनेपर उतरे थे उनमें भी प्रामाणिकता न रही, यों ही याने तीर्थविच्छेदक सम्प्रदायोंकी तरह जितने भी तीर्थ सम्प्रदायको चलाने वाले लोग हैं, उनके वचनोंमें परस्पर विरोध है, तब कैसे कहा जाय कि यह प्रामाणिक है, यह सम्वादक है, यह आप्त है । तो प्रभुने तीर्थ (सम्प्रदाय) चलानेके कारण किसीको भगवान मान लिया जाय यह बात युक्त नहीं है । वहाँ विचारना होगा कि उन तीर्थ चलाने वालोंमें है तो कोई एक आप्त पर वह तीर्थ चलानेके कारण नहीं है, उनमें और दृष्टिसे कुछ बात सोचनी चाहिये ।

अनुष्ठेयताकी समस्या रखकर विधिवाद व नियोगवादके आक्षेप समाधान—अब विधिवादी और नियोगवादीमें या नियोगवादका आश्रय करके भावना वादीमें परस्पर वार्ता चलेगी । विधिवादी कहता है कि विषयपने रूपसे प्रतिभासमान पुरुषके ही तो विषयत्व हुआ, सो चूंकि वह पुरुष निष्पन्न है इस कारण पुरुषका धर्म जो विधि है अवश्यकरणीय दर्शनादीक है उसकी असभवता नहीं होती । तो उत्तरमें कहा जा रहा है कि फिर तो यज्ञ पूजनका आश्रयभूत द्रव्य आदिककी सिद्धि होनेसे द्रव्यादिक विषयता होनेसे यजनाश्रय द्रव्यादिका धर्म नियोग कैसे सिद्ध न होगा । क्यों कि, जिसरूपसे विषय विद्यमान है उसरूपसे उसका धर्म नियोग भी विद्यमान है । इतनेपर भी नियोगको अनुष्ठानका अभाव कहोगे अर्थात् नियोग यदि नहीं मानोगे यज्ञ का अनुष्ठान नहीं मानोगे तो जिस रूपसे वह विधिका विषय है उस रूपसे पुरुषके

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

धर्मरूप विधिका भी अनुष्ठान कैसे हो सकता है ? अर्थात् श्रुतिवाक्यका अर्थ यदि ब्रह्म-स्वरूप है तो ब्रह्मस्वरूप तो सिद्ध है, स्पष्ट है, तो निष्पन्न हुए का अनुष्ठान क्या ? स्वर्गाभिलाषीको यज्ञ करना चाहिए इस शब्दको सुनकर विधिवादी यह कहे कि इसका अर्थ तो ब्रह्मस्वरूप है। तो बतावे वह कि करना चाहिए, क्या करना चाहिए ? क्या ब्रह्मस्वरूप करना चाहिए ? जो परिपूर्ण है, निष्पन्न है उसका अनुष्ठान कैसा ? यदि विधिवादी यह कहे कि जिस अंशसे विधि नही है, निष्पन्नता नही है उस रूपसे विधि का अनुष्ठान हो जायगा याने विधिका करना, आत्म दर्शनादिको अनुष्ठानाभि मन्तव्य बन जायगा तो सुनिये यह बात नियोगमें भी समान है। वहाँ भी यह कह सकते हैं कि जिस अंशसे निष्पन्नता नही है उस अंशसे नियोगमें भी अनुष्ठान हो जायगा ?

अप्रतीयमानता होनेसे नियोगार्थकी अननुष्ठेयताका आक्षेप समाधान

इस प्रसंगमें विधिवादी प्रश्न करता है कि नियोग तो असत् है, है नहीं फिर उसका अनुष्ठान कैसे होगा ? क्योंकि नियोग तो अप्रतीयमान है, नियोग अर्थ निकला ही नहीं, प्रतीतिमें नही है। तो जैसे खर विषाण, आकाश कुसुम, ये असत् हैं, तो क्या इनका कुछ अनुमान किया जा सकता है ? आकाश पुष्पोंकी फूलमाला बना ले कोई या गधेके सींगका धनुष बना ले कोई, यह बात की जा सकती है क्या ? तो उत्तरमें नियोगवादी या नियोगवादका आश्रय करके भावनावादी कहता है तब फिर इसी प्रकार विधि भी अनुष्ठेय नहीं हो सकता। अर्थात् विधिका भी अर्थ किया नहीं जा सकता, उसका कोई प्रयोग नहीं बन सकता। यदि कहो कि वह विधि, वह ब्रह्मस्वरूप प्रतीयमान तो है मगर अनुष्ठेय रूपसे अभी असिद्ध है इस कारण ब्रह्मस्वरूपका अनुष्ठान बन जायगा। याने ब्रह्मस्वरूप प्रतीयमान तो हो रहा है, किन्तु उस रूप बनना, उसमें मग्न होना उसका जो स्वरूप है उस रूप परिणति हो जाना इस रूपसे अभी सिद्ध नहीं है इस कारण ब्रह्मस्वरूपमें विधिमें अनुष्ठेयता बन जायगी तब तो फिर नियोग भी उस ही तरह अनुष्ठेय बन जाय। अर्थात् वह नियोग प्रतीयमान है। समझ रहे हैं स्वर्गके अभिलाषी हैं तो यज्ञ करना चाहिए, इसमें कार्यकी बात कहो, प्रेरणा दी गई. पर अभी अनुष्ठेयरूपसे असिद्ध है। किया नहीं गया इसलिए नियोग भी अनुष्ठेय हो जायगा, उसमें भी कोई दोष नहीं है।

अनुष्ठेयताके विकल्पोंसे विधिवाद व नियोगवादमें आक्षेप समाधान

अब विधिवादी कहता है कि नियोग तो अनुष्ठेय रूपसे ही बन सकता है याने कर्तव्यपनेसे ही यह व्यवस्था हो सकती है कि यह नियोग है अन्य नहीं, प्रतीयमानपनेके रूपसे नियोगत्वकी व्यवस्था नहीं बन सकती क्योंकि प्रतीयमानता याने लोगोंको उस सम्बन्धमें जानकारी होना, प्रतीभास होना यह तो समस्त वस्तुओंमें साधारण है, प्रत्येक प्रकृति प्रत्ययोंमें शब्दोंमें पाया जाता है सो नियोगमें तो अनुष्ठेयताकी बात प्रधान होना चाहिए। सो यह बताओ कि वह अनुष्ठेयता प्रतिभात है या अप्रतिभात

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

है याने प्रतिभासमें आई ही नहीं है । यदि अनुष्ठेयताको मानते हो तो फिर नियोग अन्य क्या चीज रही जिसका कि अनुष्ठान करना चाहिए । यदि अप्रतिज्ञात है तो उसकी अवस्थिति ही कुछ नहीं । तो नियोगवादी उत्तर देता है कि इस तरह तो विधि भी, ब्रह्मस्वरुप भी प्रतीयमान होनेके कारण प्रतिष्ठाका अनुभव नहीं कर सकता किन्तु विधीयमानता होनेसे याने आत्मा देखना चा हुये सुनना चाहिए इत्यादि कर्तव्यपनेसे ब्रम्हस्वरूपकी प्रतिष्ठा हो सकती है केवल प्रतीयमान होनेसे नहीं । और, वह विधीयमानता अनुभूत है या अनुभूत ? यदि विधीयमानता अनुभूत है तो फिर विधि अन्य क्या वस्तु रही जिसको कि उपनिषद्वाक्योंसे सुना जाय । यदि विधीयमानता अननुभूत है तो उसकी अवस्थिति ही कुछ नहीं । विधिवादी कहता है कि यह आत्मा देखा जाना चाहिए, सुना जाना चाहिए, इसका मनन करना चाहिए, इसकी उपासना करनी चाहिए । इस तरहके जो वेदवाक्य हैं श्रुतिवाक्य हैं उनसे यह प्रतीति होती है कि मेरे ये आत्मदर्शन आदिक कर्तव्य हैं, और इस प्रतीतिके कारण विधि बराबर सही बन गयी, उसका कैसे निराकरण किया जा सकता है ? तो नियोगवादी कहता है कि तब फिर इस समय याने विधिकी प्रतीति कालने अग्निहोत्रादि वाक्यके द्वारा मैं अग्निके काममें नियुक्त हुआ हूँ ऐसी प्रतीति नहीं है क्या ? जब श्रुतिवाक्यका उपदेश हुआ कि स्वर्गाभिलाषी यज्ञ करे तो सुनने वाला यह प्रतीति रखता कि करना चाहिए, करनेका यत्न करता है । तो उस समय देखो उस वाक्यके द्वारा यह पुरुष याग आदिक विषयोंमें नियुक्त हुआ है । तो इस उपदेशके विषयरूप याग आदिक विषयमें लग गया हूं ऐसी प्रतीति तो वहाँ भी है, फिर नियोग का निराकरण कैसे करते हो ?

नियोग प्रतीतिके अप्रमाणत्वका आक्षेप समाधान – यदि विधिवादी कहे कि अग्नि होत्रादि वाक्यसे याग आदिकमें मैं नियुक्त हुआ हूं यह प्रतीति अप्रमाण है तो हम भी यह कह सकते हैं कि विधिकी प्रतीति भी अप्रमाण है, कदाचित् कहो कि विधिकी प्रतीति तो पुरुष दोष रहित वेदवचनसे उत्पन्न हुई है, अर्थात् अपौरुषेय आगम में जो वचन हैं उन वचनोंसे ब्रह्मस्वरूपकी प्रतीति हुई है इस कारण वह अप्रमाण नहीं हो सकता । तब फिर इस ही कारण नियोगकी प्रतीति भी अप्रमाण मत हो, क्योंकि उन्हीं वेद वाक्योंसे नियोगकी भी प्रतिति उत्पन्न हुई है । तो श्रुतिवाक्य दोनोंके लिए एक हैं फिर भी नियोगको विषयका यागादि द्रव्यका धर्म नहीं मानते हो तो विधि भी विषयका, पुरुषका धर्म नहीं होगा । इसके साथ ही यह भी तो निश्चय नहीं किया जा सकता कि विधायक विधिलक्षणार्थ प्रतिपादक शब्दका धर्म विधि है अर्थात् जो कुछ शब्द बोला वह कहलाया विधायक शब्द, और उसका धर्म विधि ही है, ब्रह्मस्वरूप ही हैं, सन्मात्र ही है, यह निश्चित नहीं किया जा सकता अन्यथा इस तरह तो नियोग के भी नियोक्तृ शब्दका धर्मपना आ जायगा । यदि कहो कि शब्द सिद्धरूप है अतः उसका जो धर्म है, नियोग है, वह कैसे असिद्ध होगा ? जिससे कि फिर वेदवाक्यसे

http://www.jainkosh.org

यह अनुष्ठेय है, समझाया जाता तो उत्तरमें कहते हैं कि ऐसा नही मानना चाहिए, अन्यथा विधिका सम्पादन भी विरुद्ध हो जायगा, क्योंकि वहाँ भी कहा जा सकता है कि पुरुष तो सिद्ध रूप है, फिर उसका धर्म विधि कैसे प्रसिद्ध हो सकता जिससे कि उपनिषद्वाक्यसे विधिके सम्पादनका उपदेश किया जा सके। सो इससे विधिका भी सम्पादन उपदेश नहीं कर सकते।

विधिवादमें विषयकी अपूर्वार्थिता न रहनेसे प्रमाणत्वकी असिद्धिका कथन—यहां प्रकरण यह चल रहा कि मीमांसकके सम्प्रदायोंमें ही तीन प्रकारके अभिप्राय वाले पुरुष हैं। एकने तो उन समस्त वेदवाक्योंका अर्थ भावना रूप माना है, जैसे कि कुछ धर्मात्मा कहते हैं कि हर बातमें कि भावना ही ली गई है। करनेकी बात उपचार व्यावहार क्रियाकाण्ड है, पर वास्तविकता भावनामें है। और, एक अभिप्राय नियोगवादका है जो कहता है कि भावनासे क्या ? जो उपदेश किया गया, जिस कार्य के लिये हुक्म दिया गया उससे प्रेरणा लो, उस कार्यमें लगो उसमें लग जाओ, तो तीसरा सम्प्रदाय यह कहता कि न इसमें कुछ भावनाकी बात है, न कुछ क्रियाकाण्डकी बात है किन्तु एक ब्रह्मस्वरूपके दर्शनकी बात है। प्रत्येक वाक्यको सुनकर यही दर्शन करो, यही प्रतीतिमें लावो कि बस एक चित्स्वरूप ही कहा गया है। तो नियोगवाद और विधिवादके परस्पर आक्षेप समाधानकी चर्चामें यह कहा जा रहा कि जब ब्रह्मस्वरूप प्रसिद्ध है, प्रतीत है, मना किये जानेकी बात नहीं है तो इस रूपसे क्यों कहा जा रहा कि अमुक काम करो ? सीधा ही ब्रह्मस्वरूपको बताने वाला वचन हो। तो जो ब्रह्मस्वरूप प्रसिद्ध है उसका भी यदि सम्पादन किया जाय तो फिर बारबार सम्पादितका भी सम्पादन करिये। सम्पादित होनेपर फिर उसका निर्माण करिये। यों सम्पादनकी प्रवृत्ति चलते ही रहना चाहिए। कभी विराम न होना चाहिए। फिर उपनिषद वाक्यमें प्रमाणता कैसे आयगी ? क्योंकि अब उसमें अपूर्वअर्थता तो न रही। ज्ञान प्रमाण वह होता है जो स्वको और अपूर्व अर्थको जानता है। वही वही बात बारबार जानी गई तो उसमें प्रमाणता नही ठहर सकती। कोई नया अर्थ होना चाहिए। अब उस प्रसिद्ध विधिका भी सम्पादन किया, बारबार उसका सम्पादन किया तो यह वेदवाक्य क्या कह रहे, वही वही अर्थ तो उनमें प्रमाणता नहीं आ सकती। नई बात की जाय, धारावाही ज्ञान न हो तो प्रमाणता आयगी और यदि उसको प्रमाण मानते हो तो नियोग वाक्य भी प्रमाण हो जाओ, क्योंकि नियोग अर्थमें और विधि अर्थमें जो प्रक्रियायें अपनायी गयीं, आक्षेप दिया जाता है, वह दोनों जगह समान है।

गौणरूपता या प्रधानरूपताके विषय करनेके विकल्पोंमें विधिविषयत्व का निराकरण—अच्छा अब यह बतलाओ कि श्रुतिवाक्यका विधिवादी जो यह अर्थ करता है कि उसका तो ब्रह्मस्वरूप अर्थ है, यह वाक्य तो विधिमात्रको विषय करता

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

है तो यह वाक्य जो विधिको विषय करता है तो क्या गौणरूपसे विषय करता हुआ यह वाक्य उस विधिमें प्रमाण माना जायगा या प्रधानरूपसे विधिको विषय करता हुआ वाक्य विधिकी सिद्धिमें प्रमाण माना जाय ? यहां ये दो विकल्प किए गए हैं कि आप कहते हो कि कुछ भी वाक्य बोले श्रुतिवाक्य धर्म वाक्य, उसका अर्थ है एक ब्रह्मस्वरूप। तो ब्रह्मस्वरूप उसका विषय है। तो जो शब्द बोला गया, वह शब्द गौणरूपसे ब्रह्म स्वरूप अर्थ बताता हुआ विधिकी सिद्धिमें प्रमाणरूप है या प्रधान रूपसे शब्द अपना अर्थ ब्रह्मस्वरूपको बताता हुआ प्रमाणरूप है। यदि कहो कि गौण-भावसे बताता हुआ प्रमाणरूप है तब स्वर्गाभिलाषी पुरुष अग्निहोत्र यज्ञ करे यह भी प्रमाणरूप हो जाय क्योंकि अब तुम मान रहे हो कि श्रुति वाक्य गौणरूपसे स्वरूपको विषय करता है और वह प्रमाण है तो श्रुति वाक्यके दो अर्थ हो गए नियोग अर्थ और स्वरूप अर्थ और, स्वरूप अर्थको गौणरूपसे मान रहे तो नियोग प्रधान बन गया और विधिका, ब्रह्मस्वरूपका विषय करना गौण बन गया। तो जब विधि गौण बन गया, श्रुति वाक्यका अर्थ ब्रह्मस्वरूप होना प्रधान न रहा तब तो या तो भावना अर्थ प्रधान बन गया या नियोग अर्थ प्रधान बन गया। जैसे कि मीमांसा भट्ट श्रुति वाक्यका अर्थ भावना मानता है वह प्रधान हो गया और प्रभाकर नियोग अर्थ मानते हैं तो उनका नियोग विषय प्रधान हो गया तो नियोग प्रमाण बन जाय, भावना प्रमाण बन जाय पर विधि प्रमाण न हो सका।

नियोग और भावनाके असद्विषयत्वके अभावका व विधिके सत्यत्व असत्यत्व विकल्पोंमें अनवस्थितिका कथन— अब विधिवादी जरा विचार करे देखे कि भावना और नियोग ये दोनों असत् पदार्थोंको विषय करते हुए प्रवृत्ति नहीं कर रहे, क्योंकि सर्वथा असत् होते भावना और नियोग और उनकी फिर प्रतीति मानते तो खरगोशके सींग आदि की भी प्रतीति बन जाय। तो भावना नियोग असत् को विषय नहीं करता। उसमें विषय है, परिणाम बनानेकी और प्रयत्न करनेकी धुन है और स्वरूपसे उस भावना और नियोगका विधिसे अविनाभाव सिद्ध है इसलिए वाक्यका अगर ब्रह्म स्वरूप अर्थ है, वाक्य ब्रह्मस्वरूपको विषय करता है गौणरूपसे इसमें हम विवाद नहीं करते लेकिन कर्मकाण्डकी यज्ञकार्यकी, पूजन, ध्यान आदिक की पारमार्थिकता नहीं है, यह बात नहीं कह सकते वेद वाक्योंमें ये सब विधान बताये गए हैं कि इस प्रकार क्रियाकाण्ड करो, यज्ञ आदिक करो, यह बात अपरमार्थ हो केवल एक ब्रह्मस्वरूप पारमार्थिक हो यह बात नहीं बन सकती। वह पारमार्थिक है। अब विधिवादी कहता है कि ब्रह्मस्वरूप ही उस वाक्यका प्रधानरूप ही उस वाक्य का प्रधानरूपसे अर्थ है और प्रधानरूपसे ही ब्रह्मस्वरूपको विषय करने वाला वेदवाक्य प्रमाण है। तब नियोगवादी कहता है कि यह कहना यों अयुक्त है कि ऐसा कहनेमें कि देखो वेदवाक्यने ब्रह्मस्वरूपको प्रधानरूपसे विषय किया तो इसके मायने यह है कि वेदवाक्य भी सत्य है और ब्रह्मस्वरूप भी सत्य है तो द्वैतका अवतार हो गया दो

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

चीजें तो मान ली गई वाक्य और ब्रह्मस्वरुप, विषय और विषयी । तब द्वैतपना तो आ ही गया और यदि कहो कि वह ब्रह्म सत्य नहीं है, विधि सत्य नही हैं तो फिर प्रधानता किसकी लेना। इसका यह प्रधानरुपसे विषय है, ऐसा कहनेमें दोनों यदि सत्य हैं तभी तो प्रधानताका अनुभव नही कर सकता है उसमें प्रधानता नही समा सकती। जैसे अविद्याका विलास वह सत्य है ही नही। तो उसमें कहीं प्रधानता तो नही दी जा सकती। और उस तरह यहां मानते हो तुम विधिको असत्य तो फिर वेदवाक्यमें विधिको प्रधानरुपसे विषय नही कह सकते।

विधिवादी द्वारा श्रुतिवाक्यके अर्थरूप विधिस्वरूपका ससाधन समर्थन

अब यहाँ विधिवादी कहता है कि भाई तुमने विधिका स्वरूप भले प्रकारसे समझ नहीं पाया। देखो—तभी आप द्वैतमें पहुँच गए। प्रतिभास मात्रसे पृथक् विधि कोई कार्यरूपसे प्रतीत नहीं होता जैसे कि घट कार्यपनेसे प्रतीत होता है, श्रुति वाक्योंमें किसी कर्तव्यके विधानका हुक्म दिया है अथवा सलाह दी है वह कार्यरूपसे कुछ अलग हो वह प्रतिभासमात्र ब्रह्मस्वरूपसे पृथक् हो सो बात नहीं है। अथवा कहिये जैसे कि घट पट आदिक ये कोई प्रतिभासमात्रसे प्रथक् चीज नही है। प्रतिभास स्वरुप हैं अब साथ ही यह भी देखिये कि वह विधि ब्रह्मस्वरुप कोई प्रेरकरुपसे निश्चित नहीं किया जा रहा है जैसे कि वचन प्रेरकरुपसे प्रतीत होते हैं, अथवा वचन प्रेरक नहीं होते। वचन एक परिणति है। बोल दिया ठीक है। प्रेरणा वचनोंको सुनकर जो पुरुष अपने आपमें लगाता है वह उसकी करतूत है। वचन प्रेरक नहीं हुआ करते। कर्म साधनरुपसे विधिको यदि प्रतीति हो तब तो यह कहा जा सकता है कि कार्यपने के रुपसे तब प्रेरकतारुपसे ज्ञान हुआ है, पर जहां कर्म साधन, कारणसाधन रुपसे प्रतीति नहीं हो रही वहाँ कार्यपनेकी व प्रेरकताको बात नही आती। तो फिर क्या सो सुनो, तब श्रुतिवाक्यमें यह कहा गया कि अरे आत्मन्। देखो यह ही आत्मा निरखना चाहिए, सुनना चाहिए, जानना चाहिए और अभेदरुपसे उपासनामें लगाना चाहिए। इन शब्दोंके सुननेके बाद एक ऐसा अभिप्राय जगता है कि मैं किसी अवस्था विशेषसे पेरित हुआ हूँ। किसी विलक्षण अवस्थाके भावसे प्रेरित हुआ हूँ इस प्रकारका जिसको अहंकार जगा, अभिप्राय बना उससे वह स्वयं आत्मा ही तो प्राप्त होता है। तब कहा कि अरे आत्मन्! अपने आत्माको जानो तो सुनने वालेने अपने आप में अपने आपकी एक विशेष अवस्थाके लिए प्रेरणा ही तो पायी। वह आत्मा ही प्रतिभासमें रहा। उस हीका नाम विधि है। और उसका जो ज्ञान है बस वही विषयरूपसे सम्बन्ध कहलाता है। अर्थात् आत्माको जाने ऐसा कहकर कोई उस आत्माका ज्ञान करता है तो उसने अपने आपको विषय रूपसे सम्बन्धित कर लिया। वहां दूसरी बात क्या आयी? तो इस तरहसे विधिको हम प्रधानरूपसे श्रुतिवाक्यको विषय मानते हैं तो उसमें कोई दोष नहीं आता क्योंकि उस ही प्रकारके वेदवाक्यसे प्रतिभासमें क्या आया? आत्मा ही और किस रूपसे आया? विधायकरूपसे। आत्माको

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

जानना चाहिए ऐसा सुनकर जानने वाला कौन हुआ ? यही। जाननेमें क्या आया ? यही। तो यही विषय बनता है अर्थात् वही किया जाता है, वही करने वाला होता है। क्योंकि उस आत्माका दर्शन श्रवण, चिंतन, ध्यान ये सब विधीयमान रूपसे अनुभवमें आते हैं। और फिर उस प्रकार स्वयं आत्माको देखनेके लिए, सुननेके लिए, समझनेके लिए, ध्यान करनेके लिए फिर वह प्रवर्तित होता है। उस प्रकार अगर प्रवृत्ति न मानी जाय आत्माकी तो मैं इन सबसे प्रेरित हुआ हूं ऐसा परिज्ञान अप्रमाणिक हो जायगा इसलिए विधि असत्य नहीं है जिससे कि विधिकी प्रधानतामें विरोध आये और विधिको सत्य माननेपर द्वैतकी सिद्धि भी नहीं होती क्योंकि वह विधि विधान कार्य आत्मा स्वरूपको छोड़कर और कुछ है भी तो नहीं, वह ही एक स्वरूप उस तरहसे प्रतिभासित होता है, ऐसा विधिवादियोंने अपना मंतव्य रखा।

वाक्यमें नियोगार्थकी ध्वनि होनेसे स्वरूपमात्रके वाक्यार्थत्वका निराकरण—श्रुतिवाक्यका अर्थ विधिरूप स्वरूपमात्र मानने वाले वेदान्तियोंके द्वारा स्वरूपका ही वाक्यार्थपना सिद्ध करनेका प्रतिपादन सुनकर भट्ट मीमांसक कहते हैं कि वह सब उक्त कथन असत्य है अर्थात् श्रुतिवाक्यका अर्थ स्वरूपमात्र है, परम ब्रह्म मात्र है, यह बात असंगत है क्योंकि नियोग भावना आदिक भी श्रुतिवाक्यके अर्थ भी निश्चयात्मक ढङ्गसे प्रत्यय हो रहा है। देखिये जब द्रष्टव्यः अयं आत्मा, यह श्रुति वचन सुना, अर्थात् आत्माको देखना चाहिए। इस वचनसे भी नियोग अर्थ निकल रहा है। जैसे कि स्वर्गाभिलाषी पुरुषको अग्निहोत्र यज्ञ करना चाहिए इस श्रुतिवाक्यमें में नियोग अर्थ निकलता है। किसी पुरुषको इस वाक्यने कुछ कहा, प्रेरणाकी, कार्य लगाया, यह जैसे वाक्यका अर्थ निकलता है उस ही की तरह यह आत्मा देखना चाहिए, इन वचनोंसे भी नियोग अर्थ ही निकलता है। वह कैसे ? तो नियोगका यही अर्थ है ना कि इस वाक्यमेंसे नियुक्त हुआ हूँ इस प्रकारका समस्त निरवशेष योग अर्थात् किसी कार्यमें लगानेका सम्बन्ध प्रतिभास हो उसे नियोग कहते हैं। जब यह वाक्य सुना कि यह आत्मा देखा जाना चाहिए तो इस वाक्यसे दर्शनमें श्रवण आदिक में आत्माका सम्बन्ध जुटाया गया। सुनने वाला अब उस अंतस्तत्त्वके प्रति झुका तो कहीं नियुक्त ही तो हुआ। इसमें रंच मात्र भी अयोगकी आशंका न करना चाहिए क्योंकि इस वाक्यको सुनने वालेने अपने आत्मामें यह ज्ञान किया है, निर्णय किया है कि आत्मदर्शन, आत्मश्रवण आदिक ये अवश्य कर्तव्य हैं क्योंकि अन्यथा अर्थात् यदि सुनने वालेने अपने मनमें यह निर्णय न किया हो कि श्रुतिवाक्यने हमको इस कामके लिए नियुक्त किया कि आत्माको देखो—इस तरह यदि नियोग अर्थ नहीं निकलता तब फिर उस वाक्यके सुननेसे इस मनुष्यकी प्रवृत्ति उस आत्मदर्शनमें कैसे बन सकती है ? जो भी वाक्य बोला गया जैसे लोक व्यवहारमें यह वाक्य कहा कि जावो मंदिर में प्रभुमूर्तिके दर्शन करो, तो सुनने वाला उस वाक्यसे यह भाव लाया ना कि इस उपदेशने हमको मंदिरमें दर्शनके लिए लगानेकी बात कही और तभी वह मंदिर जाता

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

है। यदि उस वाक्यका नियोग अर्थ न निकले तो वह कभी मंदिर दर्शनमें, उस वाक्य में जो कहा गया उसमें प्रवृत्त नहीं हो सकता। यदि नियोगकी बात चित्तमें न आये कि इस वाक्यने क्या कहा, इसने मुझे किस कामके करनेके लिए नियुक्त किया तब फिर मेघ गर्जे उससे भी इस पुरुषकी उस कार्यमें प्रवृत्ति हो बैठे। जब बिना निर्णयके प्रवृत्ति करने लगे याने इस वाक्यने मुझको यह कहा, इस कार्यमें मुझे लगनेका कर्तव्य बताया ऐसा सुबोध न जगे और कार्य करने लगे यो अब तो सुबोध हुए बिना भी कार्य करनेकी बात कह रहे ना। तो जब मेघ गरज रहे हों उससे कोई सुबोध तो होता नहीं, मत हो, किन्तु सुबोधके बिना भी उसकी प्रवृत्ति हो जानी पड़े ऐसा प्रसंग आयगा।

शब्दका अन्यव्यवच्छेदार्थ न माननेपर अर्थप्रवृत्तिका अभाव—और, भी सुनो—यहां भट्ट वेदान्तवादियोंसे कह रहा है कि शब्दका अर्थ यदि विधि विधि ही हो, अस्तित्व और करना विधि विधि ही मात्र शब्दका अर्थ हो अन्य परिहारकी बात न हो जैसे कि यह श्रुति वाक्य बोला गया कि अरे यह आत्मा देखा जाना चाहिए तो इस शब्दसे तुम केवल आत्माकी दृष्टव्यताकी विधि कर रहे हो याने इस श्रुतिवाक्यने यह अर्थ बताया कि आत्माको देखा जाना चाहिए। इतना विधि मात्र अर्थ कर रहे हो और उसमें यह नहीं मानते कि इस शब्दने यह भी ध्वनित किया कि आत्माको छोड़कर अन्य पदार्थ न देखना चाहिए। अन्य पदार्थकी अदृष्टव्यताका व्यवच्छेद भी शब्द करते हैं, पर ऐसा तुम मानते नहीं, केवल शब्दका अर्थ विधि विधि ही मानते हो तो ऐसा माननेपर तो वाक्य किसी जीवकी प्रवृत्तिका कारण बन ही न सकेगा। जैसे कहा कि आत्मा देखा जाना चाहिए और इसका अर्थ यदि यह नहीं समझते कि आत्माको छोड़कर अन्य पदार्थ नहीं देखना चाहिए तो वह आत्मदर्शनकी प्रवृत्ति भी न कर सकेगा, क्योंकि बुद्धिमानोंकी प्रवृत्ति प्रतिनियत विषयकी विधिसे बंधी हुई रहती है और प्रतिनियत विषयके विधानमें प्रवृत्ति होना यह बात अन्य विषयके विधानमें प्रवृत्ति होना यह बात अन्य विषयके परिहारका अविनाभावी है। जैसे यह कहा कि चटाई बनाइये, तो उस सुनने वाले सेवकने चटाई बनानेका अर्थ समझा और साथ ही यह भाव समझा कि इसके अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं बनाना है। तो चटाईमें कर्तव्यता की विधि पट आदिककी कर्तव्यताका परिहार किये बिना हो नहीं सकता। अन्यथा फिर तो आदेशका कुछ अर्थ ही न रहा। कुछ भी बात किसीको आज्ञारूप कही तो उसमें विधि अर्थ और प्रतिषेध अर्थ दोनों ही अन्तर्गत हैं। यह काम करो इसके मायने यह भी है कि इसके अलावा अन्य कोई काम न करो। तो चटाईमें कर्तव्यताकी विधि पट आदिककी कर्तव्यताका परिहार किये बिना नहीं हो सकता। और वह चटाई बना नहीं सकता। तो इससे यह सिद्ध हुआ ना कि शब्दका अर्थ केवल विधि विधि ही नहीं है, अन्य परिहार भी अर्थ है।

विधिको परपरिहार सहित माननेपर शब्दार्थके विधिप्रतिषेधात्मकत्व

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

की सिद्धि—यहाँ वेदान्ती कहता है कि शब्दका अर्थ तो विधि है किन्तु वह विधि परपरिहारसहित है, तो शब्द जिस कामको करनेकी विधि कहे, कर्तव्य बताये, वह समझ गया—यह काम किया जाना है, पर उसकी विधि अन्यके परिहार सहित है। अन्य न कुछ किया जाय तो उस आदेश्य कर्तव्यकी विधि बनती है। इसपर भट्ट उत्तर देते हैं कि तब तो शब्दका अर्थ विधिप्रतिषेधात्मक हो गया अर्थात् शब्दका अर्थ यह भी हुआ कि अमुक बात कहो, अमुक कर्तव्य कहो और उसमें यह भी अर्थ आया कि इसके अतिरिक्त अन्य कुछ नही करना है। अन्यकी कर्तव्यताका परिहार अर्थ भी पड़ा हुआ है। तो जब शब्दका अर्थ विधिप्रतिषेधात्मक हुआ तो विधिकी एकान्तवादमें प्रतिष्ठा कहाँ रही अर्थात् जो तुम यह एकान्त कर रहे हो कि शब्दका अर्थ केवल विधि है, सद्भाव है, उसकी अब प्रतिष्ठा कैसे रही ? शब्दका अर्थ विधि है और अन्यापोह है। जैसे कि प्रतिषेधके एकान्तकी प्रतिष्ठा नहीं है। क्षणिकवादी जैसे मानते हैं कि शब्द का अर्थ विधि नही, किन्तु अन्यापोह है, दूसरी बातका, अवाच्यका परिहार करना यह शब्दका अर्थ है तो जैसे उनके प्रतिषेधके एकान्तवादकी सिद्धि नही है इसी तरह विधि के एकान्तवादकी भी सिद्धि नही है।

विधिप्रतिषेध दोनोंमें विधि अर्थकी प्रधानता होनेसे विधिको शब्दार्थ माननेपर नियोग भावनामें दोनोंमें नियोग अर्थकी प्रधानता होनेसे नियोगके वाच्यार्थत्वकी सिद्धि—यहाँ विधिवादी कहता है कि शब्दमें भले ही दो अर्थ भरे पड़े हों विधिरूप और अन्य परिहाररूप, लेकिन अन्य परिहार तो गौणरूप है। जैसे कहा—चटाई बनाओ ! तो उसमें लगा हुआ अर्थ है, तात्पर्य है यह कि चटाईको छोड़कर अन्य कुछ मत बनाओ, किंतु चटाई बनाओ ! ऐसी उस विधिकी कर्तव्यकी बात प्रधान है और अन्य दूसरेकी बात गौण है सो अन्य परिहारके गौण होनेके कारण प्रवृत्तिका कारण तो विधि ही बनेगा। शब्दमें विधि अर्थ है और तात्पर्यरूपसे अन्य परिहार भी अर्थ है, किन्तु पुरुष जब कभी शब्द सुनकर उस वाक्य अर्थमें प्रवृत्ति करते हैं तो विधिकी प्रधानतासे ही करते हैं, इस कारण शब्दका अर्थ विधि ही है, अन्य परिहार तो आनुषंगिक अर्थ है। इसपर भट्ट कहते हैं कि इस प्रकार प्रधान और गौणकी व्यवस्था बनाकर गौणको अर्थ न मानकर प्रधानको अर्थ माना जा रहा है तो इस तरह अर्थात् प्रधानताका आश्रय करके विधिको शब्दार्थ माना जा रहा है तो उस प्रधानताके आश्रयकी पद्धतिसे यहाँ भी शुद्ध कार्य आदिकरूप जो ११ प्रकारके नियोग अर्थ बताये गये हैं उनकी व्यवस्था कैसे न हो जायगी ? जब गौण अर्थकी उपेक्षा करके प्रधानको उसका अर्थ माना जानेकी विधि पद्धति बना दी गई तो उस श्रुतिवाक्यमें सम्बन्ध तो अनेक बातोंका है। जैसे कहा कि स्वर्गाभिलाषी पुरुष यज्ञ करे तो इसमें नियोज्यकी भी बात बताई गई। जिसको कार्यमें लगाया जाता है उसे नियोज्य कहते हैं। और, इस कार्यमें लगे यों मुख्यतया बताया गया है शुद्ध कार्यरूप नियोग किसीने अर्थ लगाया शुद्ध प्रेरणा आदिक किसीने अर्थ लगाया नियोगके लिए वहाँ प्रधान गौण

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

की व्यवस्था बराबर है। देखो शुद्ध कार्यकी ही प्रवृत्तिका कारण होनेसे प्रधानता बनी और नियोज्य पुरुष है, नियोक्तता है आदिक अन्य बातोंका शुद्ध कार्यरूप नियोगमें गौणपना रहा। तो गौणको छोड़ना प्रधानका आश्रय करना इस पद्धतिसे जो प्रधान बना है वह शब्दका अर्थ है तब नियोग भी श्रुतिवाक्यका अर्थ बनता है, इस ही तरह प्रेरणा आदिक स्वभाव वाला नियोग है, वह भी अर्थ किया गया है। श्रुति वाक्यके ११ प्रकारके नियोगरूप अर्थ हैं। तो जब यह अर्थ लिया जाय कि शुद्ध प्रेरणाका नाम नियोग है तो उस समय उस प्रेरणामें प्रधानताका अभिप्राय आया और फिर उस प्रेरणाके अलावा अन्य जो अर्थ हैं उनमें गौणपनेका निश्चय हो तो जहां गौण और प्रधान ये दो बातें आयीं वहां गौणको शब्दका अर्थ न मानना और प्रधान मानना इस पद्धतिमें शुद्ध प्रेरणा आदिक नियोग बन जाता है। तो इस तरह शब्दका अर्थ नियोग सिद्ध होता है।

नियोगमें स्वपराभिप्रायवश प्रधानत्व अप्रधानत्व होनेसे असिद्धता माननेपर विधिमें भी स्वपराभिप्रायवश प्रधानत्व अप्रधानत्व होनेसे विधि की भी असिद्धता—अब इस प्रसंगमें विधिवादी शंका करता है कि श्रुति वाक्यका अर्थ नियोग तो किया ही नहीं जा सकता। कारण यह है कि नियोगके जो अर्थ बताये गए हैं अनेक शुद्ध कार्य, शुद्ध प्रेरणा आदिक, इन अर्थोंमें अपने अपने अभिप्राय में किसीको प्रधानता दी है तो दूसरेके अभिप्रायसे वही अर्थ अप्रधान बन जाता है। जैसे नियोगका ११ अर्थ मानने वाला प्रत्येक अपने माने गए अर्थको प्रधान बतावेगा। तो अन्यके अभिप्रायसे वह गौण भी है। अथवा भट्ट तो श्रुति वाक्यका अर्थ भावनारूप करता है और प्रभाकर श्रुति वाक्यका अर्थ नियोगरूप करता है तो भट्टकी दृष्टिमें भावना प्रधान है तो प्रभाकरकी दृष्टिमें भावना गौण है तो अब उन दोनोंमेंसे किसी एकके भी स्वमानकी व्यवस्था न बनेगी, क्योंकि उनमें परस्पर विरोध है। तब उन दोनों अर्थोंमेंसे किसी भी एक अर्थको स्वभावार्थ न कहा जा सकेगा। इस आशंकापर भावनावादी भट्ट बुद्धमतका माध्यम लेकर उत्तर दे रहा है कि फिर तो यदि आप लोगोंका माना गया पुरुषाद्वैत ब्रह्मस्वरूप विधिरूप अर्थ प्रधान है तो सौगतोंकी दृष्टिमें आये हुए क्षणिकवादमतका आश्रय करनेसे आपका विधि अर्थ अप्रधान बन जायगा तो आपके स्वभावकी भी तो व्यवस्था न रही कि विधि अर्थ ही प्रधान है। आप कहते हैं कि शब्दका अर्थ विधि है और वह प्रधान है लेकिन सौगत कहता है कि शब्दका अर्थ विधि नहीं है, किन्तु अन्यापोह है। तो वही बात अपने अभिप्रायसे प्रधानरूप है किन्तु परके अभिप्रायसे तो गौण रूप हुई। वहां भी कोई व्यवस्था न बन सकी तो विधिकी प्रधानता भी प्रतिष्ठा नहीं पा सकती। कहां रहा विधिप्रधान? आप मानते रहो अपने घरमें कि शब्दका अर्थ विधि है और वह प्रधान है, पर जब जन समुदायके, दार्शनिक समूहके बीच अपना मंतव्य रखो तब पता पड़ेगा कि इसमें तो विवाद है। तो जैसे नियोग और भावनाके विवादकी बात कहकर एक भी अर्थको व्यवस्थित न

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

बताया तो यहाँ विधिवाद और अन्यापोहवाद इनका भी विवाद पड़ा हुआ है। तो यहाँ भी कोई प्रधान नहो रह सकता है।

विधिके प्रधान अर्थ मानकर विधिको शब्दार्थ सिद्ध करनेके प्रयासमें भावना नियोग व अन्यापोहमें भी प्रधानत्व होनेसे वाक्यार्थकी सिद्धिका प्रसंग—अब विधिवादी जो कि स्वभावका अर्थ केवल सद्भावात्मक ही मानते हैं, अन्य परिहार नहीं मानते, वे कहते हैं कि बात असलमें यह है कि समस्त वाक्योंमें प्रधानता तो विधिकी ही है। जैसे कहा कि पुस्तक लावो तो सुनने वालेने तो साक्षात् प्रधानरूपसे इस पुस्तक अर्थको समझा। अब उसमें यह भी भाव पड़ा है कि पुस्तकके अलावा अन्य कुछ नहीं लाना है। तो पड़ा रहो अर्थ, लेकिन प्रवृत्तिका जो कारणभूत बने ऐसा अर्थ तो विधि ही है। इसी कारण समस्त वाक्योंमें विधिकी हो प्रधानता है। प्रतिषेधकी प्रधानता नहीं है। क्योंकि प्रतिषेध अर्थ प्रवृत्ति करानेका कारण नही हो सकता। जैसे किसीसे कहा कि जल लावो तो वह जलमें प्रवृत्ति करनेकी इच्छा रखता हुआ कोई पुरुष विधिको ही तो खोजेगा, जलके अस्तित्वको ही तो खोजता है। जलमें अन्य चीजके प्रतिषेधकी खोजमें तो कोई नहीं लगता। जैसे कहा कि जल लावो तो सुनने वाला जलको निरखता है। जलका निश्चय रखता है। जल लाता है। कहीं सुनने वाला उस जलमें यह भी तकता है क्या कि इसमें कोई अन्य चीज तो नहीं मिली है? अन्य परिहारकी तो वह खोज करता नहीं। यदि किसी कर्तव्यमें किसीके अस्तित्वके परिचयमें परके प्रतिषेधके खोजकी समाप्ति ही नहीं हो सकती, क्योंकि पररूप तो अनन्त हैं। जल लावो इसके अर्थ अन्यापोह रूपमें कितने हुए? जल याने कपड़ा, अग्नि चौकी, बैंच आदिक नहीं। कितने नही। उनकी कोई गिनती थोड़े ही हो सकती है, क्योंकि पदार्थ समस्त अनन्त हैं। उनमेंसे एककी विधि की तो परिहारके विषयभूत अनन्त हो गए। कोई सी भी वस्तुका हुक्म दिया तो उस विवक्षित वस्तुमें यदि पररूपके अभावका विचार करने लगे तो तो उस विचारकी समाप्ति ही नही हो सकती और फिर दूसरा दोष यह है कि परका परिहार करके वस्तुको जाननेकी विधि मेंतो अनवस्था दोष आयगा। कहीं टिकाव ही नही हो सकता कैसे अनवस्था बनेगी? अवस्था क्यों न बन सकेगी सो सुनो—एक पदार्थकी बात कही गई। जैसे जल लाओ अब उसमें अन्य पदार्थके परिहारकी बात आयी, किसका हारकी बात आयी,कि सका परिहार करना? अग्निका ही तोपरिहार करना। अग्नि मतलावो यह अग्नि नही है यों जब अग्निका परिहार करेंगे तो अब अग्निका जानना भी परिहारसे होगा इस जलमें अग्निका परिहार करना है तो जब अग्निको जानेंगे तभी तो अग्निका परिहार करेंगे और, अग्नि कब जानेंगे जब अग्निके सिवाय अन्यका परिहार करेंगे तो अग्निके सिवाय अन्य क्या हुआ? जल आदि, अब जल जाननेमें अग्निका परिहार करते हो तो अग्निक जाननेमें जलका परिहार करना पड़ेगा। तो इस तरह पर परिहारका ही प्रतिषेध न किया जा सका।

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

परिहार्यको न जानकर क्रमसे परपरिहारकी अशक्यता बताकर विधिवादी द्वारा अन्यापोहके शब्दार्थत्वके निराकरणका प्रयास—यहाँ विधिवादी अन्यापोहके निराकरणमें अपना मंतव्य रख रहा है। देखो—हे अन्यापोह वादियो! तुम जो पररूपका निषेध करते हो, किसी विवक्षित वस्तुके ज्ञानके अवसरमें जो अन्यका प्रतिषेध करते हो तो यह बतलावो कि वह अन्यका प्रतिषेध क्रमसे किया जा रहा है या एक साथ किया जा रहा है? जैसे जल कहा तो जल अर्थमें जलसे अतिरिक्त अन्य सबका परिहार कर रहे हो तो उन सबका परिहार यदि क्रमसे करते हो तो यह बतलावो कि जिस पररूपका परिहार क्रमसे कर रहे हो उस पररूपका निर्णय न करके परिहार करते हो या जाने गए उस पररूपका प्रतिषेध करते हो? पररूपको जाने बिना तो पररूपका क्रमसे प्रतिषेध किया जाना शक्य नही है, क्योंकि जाने बिना निषेध करनेकी पद्धति कहीं सुनी भी गई है क्या? ऐसा प्रतिषेध तो निर्विषय हुआ। जो बात ज्ञानमें नही आ रही उसका निषेध करना इसका क्या अर्थ है? कोई विषय ही नही। तो क्रमसे परपरिहारके विकल्पमें परको न जानकर पर पदार्थोंका प्रतिषेध किया जाना शक्य नही है। और, न पर पदार्थको जानकर क्रमसे परपदार्थका प्रतिषेध किया जाना शक्य है, क्योंकि परकी प्रतिपत्ति कब होगी, जब उसके अतिरिक्त अन्यरूप का प्रतिषेध होगा। अन्यरूपको भी जानें तभी प्रतिषेध बनेगा तो उनका जानना कब होगा जब अन्य पररूपका प्रतिषेध होगा। तो यों प्रतिषेधमें ही अनवस्था आती है, सो परिहार्यको बिना जाने क्रमसे परपरिहार करनेकी बात नही बन सकती।

युगपत् परपरिहारकी मान्यतामें दोष बताते हुए विधिवादी द्वारा अन्यापोहके शब्दार्थत्वका निराकरण—यहाँ अन्यापोहके विरुद्ध विधिवादी यह पूछ रहे कि शब्दका अर्थ जो अन्यका निषेध करना मानते हो—किसी शब्दके बोलनेपर, जैसे कि जल कहा तो जलके कहनेपर जलका प्रतिभास तुम जलके अतिरिक्त अन्य पदार्थोंका निषेध करके मानते हो तो उन पररूपोंका प्रतिषेध क्रमसे किया जायगा, यह पक्ष तो अयुक्त रहा। अब यदि दूसरा पक्ष स्वीकार करते हो कि उसमें समस्त पररूपका प्रतिषेध एक साथ किया जाता है, जैसे जल कहा तो जलके अतिरिक्त जितने भी परपदार्थ हैं—अग्नि, धुवाँ, धूल आदिक उन समस्त पररूपोंका प्रतिषेध है तो समस्त पररूपका प्रतिषेध एक साथ किया जाता है ऐसा माननेमें तो इतरेतरा दोष आता है। जब समस्त पररूपका प्रतिषेध सिद्ध हो ले तब जिज्ञासित पदार्थोंकी विधि सिद्ध होगी। जिसको हम जानना चाहते हैं उस पदार्थका सद्भाव कब सिद्ध होगा? जल कहा तो जलका सद्भाव कब सिद्ध होगा? जब समस्त जल भिन्न पररूपोंका प्रतिषेध हो ले और जब जलकी सिद्धि हो ले तब हम जान जायेंगे कि ये सब जल नही हैं और उनका हमें निषेध करना है। सो जिज्ञासित पदार्थकी विधि सिद्ध होनेपर उसके परिहारसे अन्य पदार्थके परिहारसे उस पदार्थकी प्रतिपत्तिपूर्वक समस्त पररूप का प्रतिषेध सिद्ध होगा। इसका तात्पर्य यह है कि जैसे कहा—जल तब इसका अर्थ

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

मानना कि अजलका निषेध, तो जब अजलका निषेध कर पावेंगे, जलसे भिन्न समस्त पदार्थोंका निषेध कर चुकेंगे तब तो जल जान पावेंगे और समस्त पर पदार्थोंका निषेध कब कर पायेंगे जब कि यह जानेंगे कि यह जल नही है। इसका निषेध करते हैं तो इसमें जल, यह तो सबसे पहिले जानना ही पड़ेगा। तो यों इसमें इतरेतराश्रय दोष आता है। इस कारण यह सिद्ध होता है कि शब्दका अर्थ अन्यापोह नहीं है, किंतु विधि ही है। इसी प्रकार विधिवादी मण्डन मिश्र अपना पक्ष रख रहे हैं।

विधिवादीके परपरिहारार्थ निराकरणका निराकरण—विधिवादी मंडनमिश्रके उक्त कथनके उत्तरमें भावनावादी भट्ट कहते हैं कि यह सब कथन बिना विचारे कहा हुआ है, युक्तिसंगत नही है, क्योंकि सर्वथा विधि भी प्रवृत्तिका कारण नहीं बन सकती। शब्दका अर्थ केवल विधि विधि ही हो, हाँ हाँ ही हो, अन्यका परिहार न हो तो केवल विधि अर्थसे भी प्रवृत्ति नहीं हो सकती। देखो सभी मनुष्य जब इष्ट वस्तुमें प्रवृत्ति करनेका मन करते हैं, किसी इष्ट विषयमें प्रवृत्ति करना चाहते हैं तो वे वहाँ अनिष्ट परिहारको जरूर देखते हैं। अर्थात् किसी शब्द द्वारा जो इष्ट अर्थ वाच्य हुआ उसमें साथ ही साथ यह भाव है कि अनिष्टमें हमें प्रवृत्ति नहीं करना। यदि अनिष्ट परिहार उसके साथ न लगा हो तब फिर अनिष्टमें भी प्रवृत्ति हो जायगी। तब इष्ट पदार्थका व्याघात हो जायगा जैसे कहा कि घड़ी उठा लावो और वहाँ आगे अगलबगल निकट पुस्तक चौकी आदिक अनेक चीजें रखी थीं तो घड़ी उठाने वालेके चित्तमें यह भी है कि घड़ीके अतिरिक्त अन्य चीजोंका न उठाना उनका परिहार करना यह अर्थ उसके मनमें समाया हुआ है यदि नहीं समाया हुआ है तो इसका अर्थ यह है कि वह अनिष्ट परिहार भी न कर पायगा तो अनिष्टमें भी प्रवृत्ति हो जायगी। घड़ी उठानेका आदेश करनेपर आग क्यों नहीं उठा लेता? तो उसके भावमें दोनों अर्थ समाये हैं इष्ट प्रवृत्ति और अनिष्ट परिहार।

अनिष्टप्रतिषेधकी, अन्यापोहकी प्रत्यक्ष प्रमाणसे ही सिद्धि हो जाने का कथन—अब अन्य बात भी सुनिये अनिष्ट प्रतिषेधके बारेमें जो बहुतसे विकल्प किए प्रतिवादीने कि अनिष्ट प्रतिषेध किस प्रमाणसे जाना जा सकता है? सो भाई अनिष्ट प्रतिषेध प्रत्यक्ष आदिक प्रमाणकी तरह किसी भी वाक्यसे जान लिया जा सकता है। जैसे कि प्रत्यक्षसे अनिष्ट प्रतिषेध भी हो गया ऐसे ही शब्दसे भी वाक्यसे भी इष्टविधान और अनिष्ट प्रतिषेध हो ही जाता है, जान ही लिया जाता है क्योंकि केवल विधिके ज्ञानसे ही अन्यके प्रतिषेधका ज्ञान हो जाता है। जैसे कहा गया कि उस कमरेसे घड़ा उठा लावो कमरेमें देखकर कहता है कि वहाँ घड़ा नहीं है तो देखो क्या उसने घड़ा नहीं यह देखा कि कमरा देखा? कमरा देखा तो जैसे प्रत्यक्षसे कमरेका ज्ञान हुआ तो केवल कमरेका ज्ञान होनेका ही अर्थ है कि घड़ा नहीं, इसका भी ज्ञान हुआ सो घड़ा नहीं, यह भी देखा। यह व्यवहार लोग निशंक होकर किया ही करते हैं।

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

केवल भूतलके ज्ञान होनेसे ही घटके अभावका ज्ञान होना सिद्ध हो जाता है। तो देखिये प्रत्यक्षसे विधि भी सिद्ध है और प्रतिषेध भी सिद्ध है। घड़ेका अभाव प्रत्यक्षसे जान लिया गया कि नहीं ? प्रत्यक्षसे केवल कमरेको जान लेनेका ही अर्थ है घड़ेके अभावका जान लेना। देखो यह जानने वाला पुरुष किसी भी पदार्थको जानता हुआ, पाता हुआ परवस्तुओंसे संकीर्ण नहीं पाता है। अर्थात् जैसे जलको जाना तो वह जल अग्नि आदिकसे मिला हुआ है ऐसा तो नहीं जानता। केवल जानता है, उठा लाने की भी बात नहीं कह रहे और अन्य नहीं है इसकी भी बात नहीं कह रहे हैं। जल रखा है और केवल जलको जान रहा है तो जलको किस ढंगसे जान रहा है ? जलमें और कोई चीज नहीं पड़ी हैं। आग, धूल लोहा पत्थर आदिक अन्य चीजें नहीं मिली भई हैं। इस ही ढंगसे तो जलको जान रहा। तो, लो, देख लो, यदि प्रत्यक्षसे जलको जाननेमें जलातिरिक्त अन्य पदार्थोंकी असंकीर्णता भी जान ली गई, अर्थात् यह जल समस्त पररूपोंसे विभक्त है। पदार्थ एकत्व विभक्तरूप होता है। कुछ भी पदार्थ जाना, वह अपने रूपसे है और परस्वरूपसे विभक्त है, असंकीर्ण है। जब वस्तुस्वरूप यों है तो किसी भी वस्तुको जाननेके साथ ही यह जान ही लिया गया कि विधि भी जानी और निषेध भी जाना। तो जब प्रत्यक्षसे ही परका परिहार जान लिया जाता है तो उसमें यह पूछना कि किस प्रमाणान्तरसे जाना, अन्य प्रमाणान्तरसे प्रतिषेध सिद्ध करनेकी जरूरत क्या ? और, जरूरत हो तो कर लीजिए। प्रत्यक्षसे भी पर-परिहार सिद्ध होता है सुननेसे भी, युक्तियोंसे भी, आगमसे भी, जो अर्थ निकलता है है वह परपरिहार सहित ही अर्थ है।

वस्तुकी परसे सर्वथा असंकीर्णताकी मीमांसा—अब यहां शंकाकार पूछता है कि तो क्या कोई भी पदार्थ समस्त पररूपसे असंकीर्ण ही है, पूर्णतया विलक्षण ही है ? इसपर स्याद्वादका आश्रय लेकर समाधान किया जा रहा है कि पदार्थ सर्वथा परसे असंकीर्ण भी नहीं है। कोई वस्तु पररूपसे बिल्कुल असंकीर्ण हो, बिल्कुल भिन्न हो तो इसका भाव यह हुआ कि जैसे जल कहा और जलके पररूप क्या हुए ? अग्नि आदिक। तो अग्नि आदिक पररूपसे जल क्या सर्वथा विलक्षण है ? अगर सर्वथा विलक्षण मान लिया जाता तो अग्निमें सत्त्व धर्म है और अग्नि आदिक पररूप से भिन्न मानते हो सर्वथा जलको तो इसके मायने है कि जलमें सत्त्व न रहा। तो पर रूपसे यदि विवक्षित वस्तु सत्त्व प्रमेयत्व आदिक रूपसे भी असंकीर्ण हो जाय विलक्षण हो जाय भिन्न हो जाय, तो फिर विवक्षित वस्तुका असत्त्व हो जाता है। जल अग्निसे भिन्न है या नहीं ? भिन्न है। क्या बिल्कुल भिन्न है ? तो जल यदि अग्निसे बिल्कुल भिन्न है तो अग्निमें सत्त्व धर्म है और उससे भिन्न मान लिया जलको तो क्या अर्थ हुआ कि जलमें सत्त्व नहीं है। तो सत्त्व प्रमेयत्व आदि साधारण गुणोंकी अपेक्षासे विवक्षित वस्तु पररूपोंसे सदृश भी है।

अन्यपरिहाररूप अर्थके निर्णयमें इष्टप्रवृत्तिके अभावका कारण—

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

अब देखिये ! उक्त प्रकारसे वस्तु जब विधिप्रतिषेधात्मक सिद्ध हुई है तब अनिष्ट पर-पदार्थोंसे कथंचित् व्यावृत्ति और कथंचित् अव्यावृत्ति स्वरूप, किसी पदार्थको किसी प्रमाणसे जानने वाला, पाने वाला अभिलाषी पुरुष परपरिहारकी पद्धतिसे भी प्रवृत्त होता है अर्थात् वह समझ रहा है कि सत्त्व प्रमेयत्व आदिक धर्मोंमे तो सदृश है इष्ट पदार्थ और असाधारण धर्मकी दृष्टिसे विसदृश है यह इष्ट पदार्थ । यह तो वस्तुस्वरूप की बात कही है । अब प्रवृत्तिकी बात देखिये ! जो पुरुष भी किसी शब्दको सुनकर उस शब्दके वाच्यभूत अर्थमें प्रवृत्ति करता है तो उसके अभिप्रायमें यदि अन्य परिहारका निर्णय न हो तो किसी भी वस्तुमें प्रवृत्ति नहो कर सकता । और, प्रवृत्ति करनेकी बात तो जाने दो, ज्ञान भी किसी वस्तुका होता है तो विधि और अन्य परि-हार दोनों सहित होता है । जिसने जाना कि यह घड़ी है वह चाहे मुखसे न बोले, अन्य कुछ न विवरण करे, पर उसके ज्ञानमें यह समा चुका है कि यह अन्य कुछ नही है, ऐसा परपरिहारका निर्णय है डटकर तब वह घड़ीको घड़ीरूपसे जान पा रहा है । तो विधिकी तरह अन्यापोह भी प्रवृत्ति का कारण है । इस कारण विधि ही प्रधान है, श्रुतिवाक्यका अर्थ विधिरूप ही है क्योंकि वह प्रधान अर्थ है यह युक्तिसंगत बात नहीं ।

वाक्यसे व प्रत्यक्षसे वस्तुके विधिप्रतिषेधात्मकताकी सिद्धि—और भी इस प्रसंगमें विचारिये—जो विधिवादियोंने अपने आगमकी यह साक्षी दी है कि देखो आगममें भी लिखा है कि प्रत्यक्ष विधातृ होता है अर्थात् वस्तुकी सत्ता मात्रका जताने वाला होता है, परके निषेध करनेरूप नही होता, और, इसी प्रकार उपनिषद्वाक्य भी केवल विधिको बताने वाला होता है, सन्मात्र द्योतक होता है, परका निषेध करने वाला नहीं होता, यह कहना ठीक नही बनता, क्योंकि यह नियम सम्भव नही है । यदि यह नियम मान लिया जाय कि प्रत्यक्ष और उपदिषद्वाक्य ये पदार्थके सन्मात्र स्वरूपको ही बताते हैं, निषेध करने वाले नही हैं, तो यह बतलाओ कि विद्या अविद्या से भिन्न है या एकरूप है ? एकरूप कहना तो बनेगा नही, ऐसा मानते ही नही । और, यदि कहेंगे कि विद्या अविद्यासे भिन्न है तो विद्या अब दोनों स्वरूप हो गयी ना ? विद्यास्वरूप भी है और अविद्या परिहार स्वभावी भी है । तो विद्याके कहते ही अविद्या का परिहार हुआ तब यह नियम तो न बना कि प्रत्यक्ष और उपनिषद्वाक्य केवल विधि विधिको ही सिद्ध कराते हैं । जब यह नियम न बना, तो कोई पूछे यह विद्या है ? हाँ विद्या है । यह अविद्या है ? हाँ अविद्या है । यों कुछ निर्णय ही न हो सकेगा विद्याका स्वरूप ही न बनेगा । और, इससे सिद्ध है कि प्रत्यक्ष विधिको भी जानता है और निषेधको भी जानता है, अन्यथा वह दार्शनिक एक भोली भाली बच्चोकी तरह अज्ञानी ही रहेगा । जैसे एक अहाना है—किसी मूर्ख छोटी बच्चीसे पूछा, जिसका नाम दूमावाई है, क्या दूमावाई तू स्वसुराल जायगी ? हाँ जाऊँगी । क्या माइके जायगी ? हाँ जाऊँगी । उसे कुछ बोध ही नही है, जिस चाहेको हां कहलवा दिया । इसी तरह प्रत्यक्ष यदि विवेक वाला नही है अर्थात् परका निषेध और विवक्षितकी विधि दोनोंके

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

ज्ञानकी कला नहीं है, तो उस प्रत्यक्षसे भी सही ज्ञान नहीं बन सकता। अन्यथा यही दोष आयगा। विद्याका क्या विद्या स्वरूप है ? हाँ, क्या अविद्या स्वरूप है ? हां। क्या निर्णय आयगा ? इससे सिद्ध है कि प्रत्यक्ष केवल विधिको नहीं कहता, विधि और परप्रतिषेध दोनोंको जताने वाला है। और, तभी इष्ट वस्तुमें प्रवृत्ति होती है इष्ट पदार्थ अनिष्ट परिहारको लिए हुए है। इससे सिद्ध है कि शब्दका अर्थ केवल विधि ही नही है ।

परपरिहाररूप अर्थका उपयोग करके परपरिहाररूप अर्थका निषेध करनेमें स्वस्थताका अभाव—आश्चर्यकी बात तो देखिये कि यह विधिवादी जो कि प्रत्यक्ष प्रमाणसे अथवा उपनिषद्वाक्यसे केवल विधि ही अर्थ निकालता है तो वह अविद्यासे पृथग्भूत सन्मात्रको किसी प्रमाणसे जानता हुआ ही यही तो सिद्ध कर रहा है दुनियाको कि प्रत्यक्ष केवल सन्मात्रको नही जताता, किन्तु परपरिहारको भी जताता है। विधिवादियोंका इष्ट ब्रह्मस्वरूप सन्मात्र तत्त्व अविद्यासे निराला है कि नही ? निराला है। तो जब सन्मात्रको जाना तो उसके साथ-साथ यह ज्ञान बना हुआ है कि ज्ञान तो यह है और यह अविद्यासे परे है। तो उसने प्रत्यक्षको विधिनिषेधात्मक रूपसे उपयोगमें लिया किन्तु बोलते हैं यों कि प्रत्यक्ष केवल विधिको सिद्ध करता, निषेध करने वाला नही है, तो बताओ कि वह स्वस्थ कैसे कहा जाय ? तन्दुरुस्त तो नही है, अज्ञानी है, अज्ञानरोगसे पीड़ित है। देखो अविद्याका विवेक जिसमें है अर्थात् अविद्यासे प्रथक्पना जिसमें है ऐसा है वह सन्मात्र ब्रह्म। तो सन्मात्र ऐसा शब्द बोलते ही यह ध्वनित कर दिया कि अन्य कुछ नही। मात्र प्रत्यय कहाँ लगता है ? जहाँ केवल वही है, अर्थात् उसके सिवाय अन्य कुछ नही है। तो सन्मात्रमें परम शून्यपना सिद्ध है। तो सन्मात्र है विद्यारूप और उसका पररूप हुआ अविद्या तो सन्मात्र कहते ही इस ज्ञाताने अविद्याका प्रतिषेध भी साथ-साथ जाना। तो बोलचालमें उपयोग कर रहे हैं विधि प्रतिषेधात्मक अर्थका, किन्तु मुखसे नही कहा जाता। यह कैसा विवेक है ? जैसे कि स्य द्वादका निषेध करने वाले पुरुष बोल चालमें व्यवहारमें, लेनदेनमें उपयोग तो कर रहे स्याद्वादका पर मुखसे स्याद्वादके समर्थन न करनेकी हठपर तुले हुये हैं। कथंचित् नित्य और कथंचित् अनित्यकी श्रद्धा किए बिना कोई रोटी भी बना सकता है क्या ? जैसे आटेकी रोटी बनाना है तो उसके ज्ञानमें कथंचित् नित्यानित्यात्मकता बसी हुई है। चाहे वह कह न सके, समझा न सके, लेकिन उसे यह बोध है कि इससे रोटी बनेगी अर्थात् एक नई चीज बनेगी। रोटी बननेपर भी चीज तो रहती है ना वह ? आटा उपादान वह रहा, यह भी जान रहा और नई परिणति होगी यह भी समझ रहा तब तो वह रोटी बना सकेगा किसी कार्यको नये स्याद्वादका उपयोग लेकिन एकान्तवादकी वासना होनेसे या एकान्त मन्तव्य जाहिर कर देनेसे कि इसका तो यह मंतव्य है, उसे मुखसे कहनेको उनके साहस नही होता, यही बात इस प्रत्यक्षके सम्बन्धमें है कि अन्य परिहारार्थका निषेध करने वाला वि[illegible]वादी शब्द कहकर अन्य परिहाररूप अर्थका

http://sahjanandvarnishastra.org/

उपयोग तो किये जा रहा है पर माननेको तैयार नही हो पा रहा कि प्रत्यक्ष विधिकी तरह अन्य परिहारको भी ध्वनित करता है। तब बतलाओ कि वह स्वस्थ कैसे कहा जाय ?

भावाभावात्मकविषयप्रत्यय होनेसे प्रत्यक्ष प्रमाणमें विधातृत्वकी तरह निषेद्धत्वकी भी सिद्धि—और भी देखिए, सोचिए प्रत्यक्ष आदिकमें निषेद्धत्वका अभाव है याने ये प्रत्यक्ष आदिक प्रमाण निषेद्धा नहीं हैं इस बातपर कैसे विश्वास है ? प्रत्यक्ष प्रमाण निषेद्धा नहीं है, यह तो विरुद्ध वचन है। सन्मात्र विद्यामय ब्रह्म है ऐसा कहकर उसने परिचय तो यही बनाया कि वह विद्यामय सन्मात्र है, अविद्यारूप नही है। तो विधि और परप्रतिषेध इन दोनोंरूप शब्दका अर्थ है। उसमें से केवल विधि अर्थका मानना युक्त नही है। क्योंकि, देखिए, जिस प्रमाणसे विधिका ज्ञान होता है वही प्रमाण अभावको विषय करने वाला है अर्थात् प्रत्यक्ष प्रमाणसे विधिका ज्ञान होता है तो प्रत्यक्ष प्रमाणसे ही अभावका भी ज्ञान होता है। जब यहाँ विधिवादी आशंका रखता है कि प्रत्यक्ष आदिक प्रमाणके विधातृत्वकी प्रतिपत्ति ही निषेद्धत्वके अभावकी प्रतिपत्ति कहलाती है, अतः प्रत्यक्षादिक प्रमाण निषेद्धा कैसे हो सकते हैं। तथा प्रत्यक्षादि प्रमाणसे विधिस्वरूप सद्भावकी ही सिद्धि होती है सो विधिके सद्भावकी सिद्धि होनेका ही नाम निषेधके अभावका ज्ञान कहलायेगा याने प्रत्यक्ष तो विधातृ है और विधातृ होनेका ही नाम निषेधका अभाव है। इससे प्रमाण निषेधका विषय नही करता, किन्तु प्रकाश जिसको विषय करता है उसका ही अर्थ है निषेध्यका अभाव। उत्तरमें कहते हैं कि तब तो यही बात सिद्ध हुआ ना कि प्रत्यक्ष आदिक प्रमाण भाव और अभाव दोनोंका विषय करने वाले हैं। फिर तो विधिवादियोंके द्वारा कहा गया विधि वाक्यार्थ सिद्ध नहीं होता क्योंकि प्रमाण तो विधि और निषेध दोनोंका ही विषय करने वाला है और जब श्रुतिवाक्यका अर्थ विधिरूप सिद्ध नहीं हो सकता तो नियोग ही वाक्यका अर्थ है यह बात स्वयं उत्पन्न हो जाती है और फिर इससे प्रभाकरके मतकी सिद्धि होती है।

विधि व नियोग अर्थका निराकरण करते हुए भावनाको वाक्यार्थ सिद्ध करनेका भावनावादीका प्रयास—प्रत्यक्षादि प्रमाणसे केवल विधिकी सिद्धि न होनेसे नियोगार्थकी सिद्धिकी बात सुनकर प्रभाकर कहता है कि तब तो नियोग ही वाक्यका अर्थ बनो ! नियोगको छोड़कर फिर अन्य किसीमें वाक्यार्थपनेकी कल्पना ही क्यों करते हो ? भावनावादी भट्ट कहता है कि यह कहना भी युक्त नही है क्योंकि जैसे धात्वर्थ वाक्यका अर्थ है इस तरह प्रतीत नही होता, इसी प्रकार प्रभाकरके द्वारा जिसका स्वरूप कहा गया है ऐसा नियोग भी वाक्यका अर्थ है इस रूपसे प्रतीत नही होता। विधिवादीने धातुका अर्थ सन्मात्र विधि कहा है। तो उक्त प्रकारसे जिसका कि वस्तुमें वर्णन किया गया वह सन्मात्र विधि वाक्यका अर्थरूपसे नही सिद्ध होता उस

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

ही प्रकार नियोग भी वाक्यार्थरूपसे सिद्ध नही होता, क्योंकि सभी जगह आगममें वेद में सभी जगह उन सब वैदिक लौकिक वाक्योंमें भावना ही वाक्यके अर्थरूपसे प्रतीत होती है। भावनाका अर्थ क्या है ? यज्ञ आदिक क्रियामें कर्तापनको प्राप्त द्रव्य आदि वस्तुकी प्रयोजक क्रियाको भावना कहते हैं। वह भावना दो प्रकार की है। शब्द-भावना और अर्थभावना। शब्दभावनाके स्वरूपमें लिङ आदिक कर्ता है अर्थात् लिङ्ग लोट तव्य ये श्रुतिवाक्यमें किसी कामके लिए कर्ता माने जाते हैं। जैसे—श्रुतिवाक्यने कहा कि यज्ञ करना चाहिए तो अब उसके प्रति जो भावना लगी, उस क्रियामें जो व्यापार करनेका भाव बना, यत्न बना उसका करने वाला कौन ? यह वाक्य। और, वाक्यमें भी लिङ लोट तव्य ये प्रत्यय हैं। इनमें जो प्रत्यय लगा है उसमेंसे आदेश अर्थ निकला. कर्तव्य अर्थ निकला। तो ये लिङादिक प्रत्यय शब्दनिष्ठ भावनाको बताते हैं। और यह अर्थ भावना उससे याने शब्द भावनासे अन्य ही हैं अर्थात् शब्द भावना और अर्थ भावना ये जो दो भावनाके भेद हैं इनका अपना ः स्वरूप है। अर्थ भावना सर्वार्थी है। यजन आदिक सभी अर्थ इसके हैं। यह अर्थ भावनासे भिन्न यों है कि धात्वर्थरूप भावना समस्त अर्थका प्रतिपादन करने वाली है और यह शब्दभावनासे जुदा है तथा समस्त आख्यातोंमें विद्यमान है। आख्यातका अर्थ है कि जितने प्रसिद्ध समय सम्बन्धित भूत, भविष्य, वर्तमान सम्बन्धित जो धातुके अर्थ हैं उन सबमें यह विद्यमान है। तो इन दो भावनाओंमेंसे शब्दभावना शब्दव्यापाररूप है और उस शब्द व्यापारसे किस तरह प्रगति होती है कि शब्दके द्वारा श्रुतिवाक्यके द्वारा जैसे कि कहा स्वर्गकामी अग्निस्टोमसे यज्ञ करे तो इस शब्दके द्वारा पुरुषका व्यापार उत्पन्न किया जाता है। भावनाका अर्थ है कुछ उत्पन्न की जाने वाली बात। भू धातुसे णिजन्तमें भावना बना। जैसे पहुँचना—पहुंचाना। पहुँचना तो स्वतन्त्र कर्ताका क्रियारूप अर्थ है और पहुँचाना यह णिजन्त है अर्थात् प्रेरणात्मक है। उत्पत्ति कराई गई है तो इसी तरहसे होना और हुवाना—होनेका नाम भवन है और हुवानेका नाम भावना है। तो शब्दके द्वारा पुरुषका व्यापार उत्पादित किया जाता है और पुरुषके द्वारा धात्वर्थ उत्पादित किया जाता है। इसी प्रकार धात्वर्थके द्वारा धात्वर्थका फल उत्पादित किया जाता है। तो यहाँ शब्दभावनासे यों फलकी प्राप्ति हुई।

फलमें धात्वर्थका अनुषङ्ग मानने वालोंके प्रति धात्वर्थके अर्थकी तीन विकल्पोंमें पृच्छना—शब्दव्यापार, अर्थव्यापार व धात्वर्थ व फलके प्रसंगमें यह दोष नही दिया जा सकता कि पुरुषव्यापारमें शब्दव्यापार गर्भित हुआ धात्वर्थमें पुरुष व्यापार गर्भित हुआ और उन दोनोंकी तरह फलमें धात्वर्थ भावना गर्भित हो जाय यह प्रसंग नहीं आ सकता है। यद्यपि धात्वर्थफलको उत्पन्न करता है फिर भी उल्टा अनुषंग न बनेगा कि फलमें धात्वर्थ लगे। धात्वर्थमें पुरुष व्यापार अनुषक्त हो और पुरुष व्यापारमें शब्दव्याहार अनुषक्त हो। क्योंकि ऐसा माननेकी शंकाके समय यह पूछा जा सकता है कि वह धात्वर्थ क्या सन्मात्ररूप है या यजन पूजन भज॰

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

आदिकरूप है या क्रियारूप है ? इन तीन विकल्पोंमेंसे धात्वर्थको किस रूप मानोगे ? जिस धात्वर्थको तुम फलमें गर्भित रना कचाहते ।

सन्मात्ररूप धात्वर्थको वाक्यार्थ माननेके विकल्पकी मीमांसा—यदि धात्वर्थको सन्मात्ररूप मानते हो तो धात्वर्थमें विधिरूपताका प्रसंग हो जायगा। अर्थात् वह धात्वर्थ केवल विधिरूप ही रह जायगा। फिर नियोग अर्थ उसमेंसे न निकल सकेगा। जो भावस्वरूप सन्मात्र है वह कारकोंसे अछूता है। ऐसा धात्वर्थ अन्य अर्थसे रहित और अपने आपमें भी अन्तर्गत विशेषोंसे रहित भावमात्र रहा। सन्मात्र रहा तब धात्वर्थसे विधिमात्रकी सिद्धि हुई. नियोग सिद्ध नहीं होता। जिस सत्तामात्र अर्थके धात्वर्थसे निकलनेका प्रसंग आया उस सत्ताको प्रतिपादक अर्थ कहते हैं और वही धात्वर्थ बन गया। धातुसे जो शब्द बनता है प्रत्यय जब तक न लगे तब तक उसका शुद्ध भावरूप अर्थ होता है। हम किसी शब्दसे कुछ करनेकी बात जानें, कुछ प्रेरणात्मक ऐसी स्थिति बनानेके लिए प्रकृतिमें प्रत्यय लगाना पड़ता है। जैसे कहा राम, तो उसका अर्थ कुछ न निकला। शुद्ध अर्थ जाना गया, सन्मात्र जाना गया। और, जब कहा रामेण, जब उसमें प्रत्यय लगाया तब रामके द्वारा कुछ किये जानेकी बात विशिष्ट आयी। ज्ञानमें तो जो सन्मात्र है वह प्रतिपादकका अर्थ है और वह सत्ता ब्रह्मस्वरूप है। जिस सत्ताका त्व और तल् आदिक प्रत्यय वर्णन किया करता है। जैसे मनुष्य कहा तो वहाँ कोई मनुष्य ग्रहण हुआ। और जब त्व शब्द लगा, मनुष्यत्व तो उससे उसका भावमात्र सन्मात्र ग्रहणमें आया। तो केवल भावको सूचना करने वाले त्व और तल प्रत्यय होते हैं जैसे मनुष्यत्व और मनुष्यता। तल्का बनता है ता। मनुष्य कहनेसे कुछ व्यक्ति आया ध्यानमें, लेकिन जब उसमें त्व प्रत्यय होता है तब व्यक्ति गौण होता है और एक सन्मात्र जातिमात्र, भावमात्र अर्थ बुद्धिमें आता है। तो इस प्रकार यदि धात्वर्थको सन्मात्ररूप मानते हो तो उससे विधिरूप अर्थ सिद्ध होगा और इस तरह विधिरूप सिद्ध होना चूँकि युक्तिसंगत नहीं है सो इस बातका निराकरण नियोगवादीने स्वयं किया ही है। ऊपरके प्रकरणमें इसलिये विधिवादके निराकरण करनेके अर्थ हमारी दिलचस्पी नहीं है। यहाँ तो इतना मात्र कह रहे हैं कि धात्वर्थको यदि सन्मात्र मानते हो तो उससे नियोगकी सिद्धि नहीं होती केवल एक विधिरूपकी सिद्धि होती है।

यजनादि अर्थरूप धात्वर्थको वाक्यार्थ माननेके विकल्पकी मीमांसा—अब यदि दूसरा विकल्प ग्रहण करते हो कि धात्वर्थ है सन्मात्रसे जुदा यजनादि अर्थरूप। जैसे कहा कि यज्ञ करे, तो उस यजेत क्रियाका अर्थ सन्मात्र नहीं, किन्तु यज्ञ करे क्रियाकाण्डका अर्थ निकलता है। उस विकल्पके समाधानमें कहते हैं कि ऐसा धात्वर्थ भी प्रत्ययार्थसे शून्य होता हुआ किसीको प्रतीत नहीं, जब तक उसमें प्रत्यय न लगे तब तक वाक्यसे उस धात्वर्थका ज्ञान नहीं होता। जैसे यह कहना है कि देवदत्तने जंगलसे

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

गायको हरली। अब यहाँ प्रत्यय तो जुड़ेगा, और केवल प्रकृति प्रकृतिका प्रयोग करे देवदत्त, गाय तृ, तो क्या अर्थ होगा उसका ? तो जब तक प्रत्यय न लगे तब तक प्रत्वर्थका बोध नही होता, प्रत्ययसहित ही उस धात्वर्थका उस वाक्यसे प्रत्यय याने बोध होता है। जब प्रत्ययार्थ विशेषणभूत अर्थका वाक्यसे बोध होता तो प्रत्ययथा की बात यहाँ अधिक दृष्टिमें देनी है। प्रत्यार्थ शून्य होकर धात्वर्थ कुछ हो जाय यह किसी भी वाक्यसे प्रतीत नही होता। अब यहाँ प्रश्न किया जा रहा है कि धात्वर्थमें प्रत्यय भी प्रतिभासमान हुआ जैसे कि कहा गायको तो को लगाये बिना गायका प्रयोजक अर्थ तो नही ध्यानमें आता कि क्या कहा जा रहा उस गायके प्रति। तो प्रत्यार्थ धात्वर्थमें प्रतिभासमान हो रहा, प्रत्यय लगानेसे धातुका अर्थ प्रतिभासमान हुआ तो यों प्रतिभासमान होकर भी प्रत्यार्थ प्रधान नहीं है, किन्तु धातुका शुद्ध अर्थ प्रधान है। क्योंकि कर्म करण आदिक कारकोंकी तरह धात्वंतरमें भी प्रत्ययका सद्भाव पाया जाता है। इस प्रश्नका यह तात्पर्य है कि 'पूजे" इस प्रकारका एक धातुरूप बोला गया तो इसमें जो प्रत्यय (ए) लगा है उस प्रत्ययके बिना पूजेका कुछ भाव नही प्रतिभास में आता और, प्रत्यय शून्य धातुका कोई मतलब नही निकलतातो यों याने धातु प्रयोग में प्रत्ययका अर्थ भी प्रतिभासमान हैं तथापि प्रत्ययका उस ए का जैसे पूजे उसमें प्रत्यय तो अनेक क्रियावोमें लगते हैं जैसे पढ़े, लिखे, जावे आदिक। तो किसी वाक्यमें धातु प्रधान हुआ, प्रत्यय प्रधान नही हुआ। जैसे कि कर्म और करण ये भी धातुवों में लग जाते हैं। शब्दोंमें जैसे कर्ता कारकमें प्रथमा विभक्ति लगती है कर्म कारकके द्वितीया विभक्ति लगती है। तो विभक्ति प्रधान न रही, मूल शब्द प्रधान रहा। इस प्रश्नपर उत्तर देते हैं भट्टजन कि फिर तो धातुका अर्थ यजनादिक भी प्रधान मत होओ। जब यह कह रहे हो कि धातुमें जो प्रत्यय लगा है वह प्रत्यय अर्थ प्रधान नही है क्योंकि प्रत्यय तो अन्य अन्य धातुवोंमें भी लग बैठता है, लगाया जाता है तो इस युक्तिके अनुसार धातुका अर्थ यजनादिक भी मत हो, जो शब्दमें धातुमें मूल अर्थ ध्वनित होता है वह भी प्रधान न रहेगा, क्योंकि प्रत्यान्तरमें भी उन धातुओंका सद्भाव रहता है। तब प्रकृत जो प्रत्यय है, लिङ्ग लोट् तव्य आदिक इनके अभावमें भी वह आक्षेप समान देखा जा रहा है, अर्थात् इस प्रसंगमें विधिवादी और भावनावादीका आक्षेप समाधान तुल्य है अतएव दूषण बराबर है। फिर यह नही कहा जा सकता कि प्रत्यार्थ प्रधान नही है। तो इस प्रकार धात्वर्थ यजनादिकरूप भी सिद्ध नही होता। यहां जो धात्वर्थकी परीक्षा ३ विकल्पोंमें की गई थी कि वह धात्वर्थ क्या सन्मात्र है या यजन आदिकरूप है, या क्रियामात्र है ? उन विकल्पोंमेंसे दो विकल्पोंका निराकरण कर दिया गया कि वह धात्वर्थ है, न सन्मात्र है न यजन आदिक मात्र है।

धात्वर्थके तृतीयविकल्पका याने क्रियारूप नियोगके वाक्यार्थरूपताका खण्डन—फलमें धात्वर्थका अनुषंग नहीं होता, इस बातको सिद्ध करनेके लिए धात्वर्थ

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

के अर्थमें जो तीन विकल्प किए गए थे उनकी मीमांसा चल रही है। क्या धात्वर्थ शुद्ध सन्मात्र है? अथवा धात्वर्थ यजन आदिकरूप है? अथवा क्रियारूप है? इन तीन विकल्पोंमेंसे दो विकल्पोंका तो निराकरण कर दिया गया अब तृतीय विकल्पकी मीमांसा चल रही है कि हे विधिवादी आप लोगोंके द्वारा माना गया सन्मात्र तो धात्वर्थ है नहीं और यजनादिके विकल्पका अभी निराकरण किया गया। अब यदि सकल व्यापिनी क्रियाको धात्वर्थ मानते हो, अर्थात् समस्त धातुओंमें जो सम्भव है ऐसा धात्वर्थ यदि मानते हो तो वही तो हम लोगोंने माना कि जो सर्वमें व्यापकर रहे ऐसी क्रियाका नाम भावना है, फिर उसे क्यों नहीं मान लेते? मान ही लिया जाना चहिए क्योंकि समस्त आख्यातोंमें अर्थात् भूत भविष्य वर्तमानकी क्रियाओंमें लडादि लकारार्थोंमें वह सकल व्यापिनी क्रिया सम्भव है। सो यदि तृतीय विकल्प मानते हो कि सकलव्यापिनी क्रियाको धात्वर्थ कहते हैं तो वही तो सब धातुओंमें रहता है उस ही का नाम भावना है। उस भावनाको ही आख्यात अर्थ रूपसे क्यों नहीं मान लिया जाता? क्योंकि वह क्रिया समस्त अर्थोंमें मौजूद है। यजन, पचन, लेना, बैठना आदिक जितनी भी धातुएँ हैं, उनके अर्थ हैं, लकार हैं, उन सबमें उन सब अर्थोंसे विशिष्ट क्रियाकी ही प्रतीति देखी जाती है। जैसे जुहुयात, जुहोतु, होतव्य याने हवन करें, हवन करो, हवन करना चाहिए। इस प्रकारसे जो लिङ, लोट, तव्य प्रत्यय हैं वे हवनयुक्त क्रियाका प्रतिपादन करते हैं। हवन करें, इस शब्दसे क्या प्रतिपादित हुआ? हवनयुक्त क्रिया, यह करना, हवन वाला काम। तो जैसे ये लिङ्ग आदिक हवनयुक्त क्रियाको कहते हैं उसी प्रकार सर्व आख्यात प्रत्यय याने लट आदिक लकार भी तो किसी क्रियाको कहते हैं। जैसे कहा कि पकाता है, पकाता था, पकावेगा। तो इस पच धातुने पचन विशिष्ट क्रियाको ही तो कहा। तो देखो! अब यह क्रिया सब आख्यातोंमें पाई गई। और इस प्रकार जब क्रिया ही भावनारूप बन गई क्रियाका ही भावनापन सिद्ध हो गया तब फिर यह बात अपने आप सिद्ध हो गई कि लिङ आदिक प्रत्ययसे जो परिज्ञान हुआ क्रियाअर्थ है वह ही वाक्यार्थ है और ऐसा वह वाक्यार्थ अथवा वह पुरुष भावनास्वभावरूप ही है याने शुद्ध भावना है। तो यों जो तीन तरहके धात्वर्थ पूछे गये थे वे वाक्यार्थरूपसे प्रतीत नहीं होते किन्तु भावना ही वाक्यार्थरूपसे प्रतीत होती है, तो जैसे तीनों प्रकार का धात्वर्थ वाक्यार्थ रूपसे प्रतीत नहीं होता उसी तरह क्रिया आदिकरूप नियोग भी वाक्यार्थरूपसे प्रतीत नहीं होता। यह भावनावादी भट्ट कह रहे हैं।

भावना और नियोगके अर्थकी झांकी—भावना और नियोगका सामान्य अर्थ क्या है देखिये नियोगवादी यह कहता है कि जो शब्द बोला उस शब्दसे नियोग जाहिर हुआ। उसका अर्थ नियोग है। नियोग मायने लगना। जैसे कहा कि अष्ट द्रव्य से पूजा करो तो उसका अर्थ है पूजामें नियोग। उस शब्दसे पूजामें नियोग हुआ तो शब्द हुआ नियोक्ता और यह पुरुष हुआ नियोज्य और वह जो कुछ प्रवृत्ति हुई वह प्रवर्तनका भाव कहलाया नियोग। तो यों ही श्रुति वाक्यका भी अर्थ नियोग होता है।

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

और, भावनाका अर्थ क्या है ? हुवाआ, कराया। शब्द सुनकर आत्मामें कोई व्यापार कराया गया कोई हलन चलन हुई फिर उस पुरुष व्यापारके कारण फलमें सम्बन्ध बना। तो भावनाका अर्थ है कुछ कराया जाना। यहाँ भावनाका अर्थ केवल भावमात्र नही है जैसे चलना और चलाना। चलनेका अर्थ क्या है ? खुद चलना और चलानेका अर्थ है दूसरा, दूसरे पर चलनेकी प्रेरणा कर रहा। तो ऐसे ही होना और हुवाना भवन और भावना। भवन नाम है होनेका और भावना नाम है हुवानेका। उसका तात्पर्य है व्यापार कराना। यों भावनावादी कहते हैं कि उपदेशका, श्रुतिवाक्योंका अर्थ है काम उत्पन्न करा देना। सो इस भावनार्थकी सिद्धिके लिये भावनावादीने कहा कि न तो वाक्यका अर्थ धात्वर्थ है और न क्रिया आदिकरूप नियोग है।

शब्द व्यापाररूप श्रुतिवाक्यार्थके सम्बन्धमें नियोगवादी और भावनावादीका स्वमतार्थ योजना— अब नियोगवादी कह रहा है कि भावनावादी दो प्रकारकी भावना मानता है शब्द भावना और अर्थ भावना। शब्दमें जो व्यापार हुआ उसका नाम है शब्दभावना और पुरुषमें जो व्यापार हुआ, चेतनमें जो परिणति हुई उसका नाम है अर्थभावना। तो शब्द व्यापाररूप जो कुछ भी बात है वह क्या है ? नियोग ही तो है। तो नियोग ही वाक्यके अर्थरूपसे प्रतीत हो रहा। वह शब्द व्यापार रूप नियोग भी वाक्यका अर्थ है। कैसे? कि देखो शब्द तो अपने व्यापारका प्रतिपादक है, शब्दका व्यापार क्या है ? पुरुषमें व्यापार करा देना। शब्द क्या काम करता है ? जैसे किसीसे कहा कि वह पुस्तक उठा लावो, तो इस शब्दने क्या काम किया ? उस पुरुषमे व्यापार करा दिया। तो पुरुषमें व्यापार करनेरूप अपने व्यापारका प्रतिपादक है शब्द। अर्थात् करनेरूप व्यापारके प्रति शब्द साधकतम है, करण है, खास साधन है उसका याने करनेरूप व्यापारका यह प्रतिपादक है, ज्ञापक है। ऐसा करो, इस तरह की समझ देनेके लिये यह पुरुषके प्रति करण बनता है। तो शब्द व्यापारका प्रतिपादक है ज्ञापक है, किंतु शब्द कारक नही है। शब्द कराता नहीं है, किंतु करनेरूप भावका प्रतिपादन कर देता है, क्योंकि यदि शब्द काम कराने लगे और वह ज्ञापक न हों तो कोई शब्दके बिना भी तो नियोगकी बात मनमें आती है अर्थात् शब्दके उच्चारणके अभावमें मैं इसके द्वारा नियुक्त हुआ हूँ ऐसी इस जानकारीकी जानकारी उच्चारण किये गये शब्दसे फिर बन सकती है यदि शब्द कारक बन जाय, तो। इसपर भट्ट उत्तर देता है कि इस घुमा-फेरके साथ नियोग अर्थ बनानेमें अर्थ यह हुआ कि भावना ही नियोग है। शब्दभावना हुई ना ? शब्दका व्यापार हुआ। जिस श्रोताको शब्द सुनाया गया उसने अपने आपमें क्रिया की। तो फिर भावना ही नियोग कहलाया। सो उक्त पक्षकारने शब्दान्तरसे यही बात कही। देखो उच्चारण किए गए शब्दसे मनुष्योंके द्वारा यह जाना जाता है कि यह आत्मा नियुक्त हुआ है, यह स्वरूप जाना गया है। तो इसमें भावनाके सिवाय और दूसरा नियोग क्या हुआ जिसकी वाक्यार्थ रूपसे कल्पना की जा रही है ?

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

शब्दको प्रवर्तक माननेपर शब्दसे अगृहीतसंकेत पुरुषमें प्रवृत्ति होनेके प्रसंगका क्षणिकवादियों द्वारा दी गई समस्या व भट्ट द्वारा समाधान— अब इस समय यहाँ क्षणिकवादी कहता है कि यदि शब्दव्यापारका नाम भावना रखते हो याने शब्द बोला गया और शब्दने पुरुषका काम करा दिया तो शब्द ही यदि किसी पुरुषसे काम कराने वाला है तो शब्दके सुनने वाले तो सब हैं। जो उस शब्दका संकेत समझते हैं उन्होंने भी सुना और जो संकेत नहीं जानते उन्होंने भी सुना। जैसे कोई मनुष्य हिन्दीमें बोल रहा है और वहाँ कोई केवल इंगलिश जानने वाला इंगलिश भाषाके देशका हो तो वह अगृहीतसंकेत कहलाया। तो ऐसा पुरुष जिसको कि संकेत नहीं मालूम है फिर वह उसका अर्थ क्यों नहीं जान जाता है ? यदि शब्द ही पुरुषको काममें लगाता, शब्दका व्यापार है कि आत्मामें कोई व्यापार करा देना तो शब्दको सबने सुना लेकिन जो लोग उस शब्दका अर्थ जानते, जिन्हें उसका संकेत मालूम है वे तो काममें लग जाते हैं, सो भी लग ही जायें यह नियम नहीं। उनके भाव हुआ, अभिलाषा हुई तो काममें लगे। तो शब्द सुनकर गृहीत संकेत पुरुषके ही व्यापार बनता है अगृहीत संकेतके व्यापार नहीं बनता। यह क्यों हुआ ? शब्द तो सबके लिए एक है और शब्द पुरुषका व्यापार कराता है। जैसे कोई अंग्रेजीका जानकार भी सो रहा हो या बैठा हो और कोई हिन्दीका जानकार भी सो रहा हो या बैठा हो अब इन दोनोंको यदि कोई लाठीसे मारता है या थोड़ा कंकड़ चुभाता है तो दोनोंको उसका अनुभव हो जाता है। तो जैसे कंकड़का चुभना यह दोनोंके लिये समान है, फिर यह क्या कारण है कि जिसने उसका संकेत ग्रहण किया उसका जो अर्थ जानता है उसका तो व्यापार होता है और जो संकेत नहीं जानता उसका व्यापार नहीं होता यदि शब्दव्यापारका ही नाम भावना हुआ तो फिर अगृहीतसंकेत पुरुष क्यों नहीं जान जाता है ? क्यों नहीं उस तरहकी प्रवृत्ति करता है जैसे कि गृहीतसंकेत प्रवृत्ति करता है ? मैं इस वाक्यके द्वारा इस कार्यके लिए नियुक्त हुआ हूँ, इस ढङ्गसे क्यों नहीं शब्द उनमें व्यापार कराते ? नियुक्तिके मायने यह है कि किसी काममें लगना, लय होजाना जैसे कोई फर्म वाला किसी मुनीमको नियुक्त करता है तो नियोक्ता हुआ मालिक, नियोज्य हुआ मुनीम और नियोग कहलाया वह काम जो उसे सौंपा गया। सो अगृहीतसंकेत पुरुष भी मान जाय कि मैं इसके द्वारा यहाँ नियुक्त हुआ हूँ, तो इस ढङ्गसे अगृहीतसंकेत पुरुष क्यों नहीं शब्दका व्यापार करने लगता है, क्योंकि अब तो शब्दको स्वभावसे नियोजक मान लिया कि शब्द ही नियुक्ति करने वाला है, कार्य कराने वाला है। तो जब स्वभावको शब्दका नियोजक माना गया तो वह शब्द जिस जिसके प्रति बोले जायें वे सब नियुक्त बन जायें, क्योंकि मैं इस शब्दके द्वारा इस कार्यके लिये नियुक्त हुआ हूँ, इस प्रकारका नियोजन करनेका शब्दमें स्वभाव मान लिया गया है। दूसरी यह बात सिद्ध हुई कि संकेतका ग्रहण करना अनुपयोगी हो गया, क्योंकि शब्द बोला गया और उस शब्दने दोनोंका काम करवा दिया। एक गृहीतसंकेत था, एक

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

अगृहीतसंकेत था, एकको उसका अर्थ मालूम था, एकको उसका अर्थ न मालूम था, लेकिन शब्दने उन दोनोंको काममें नियुक्त कर दिया तो अब संकेत ग्रहण करनेकी बात तो न रही, संकेत जाने चाहे न जाने, शब्द तो यह व्यापार कर ही देता है। तब संकेतका ग्रहण करना अनुपयोगी हो गया। उक्त प्रश्नपर भावनावादी भट्ट उत्तर देता है कि यह शका करना समीचीन नही है, क्योंकि शब्द व्यापाररूप यदि भावना है, शब्दव्यापार पुरुषमें व्यापार कराता है तो फिर अगृहीतसंकेतसे क्यों नही व्यापार कराता? यह कहना यों ठीक नही कि संकेत उस प्रकारके जाननेमें सहकारी हुआ करता है। शब्दका व्यापार तो कराया पुरुषने मगर उस पुरुषको जो उन शब्दोंका संकेत मालूम था तो वे संकेत उस प्रकारके जाननेमें सहकारी बन गए, क्योंकि किसी भी एक कार्यका कारण सामग्री है, सब कारणोंका समूह है। एक कारणमात्र नही है कार्यका जनक। शब्दने कार्य किया तो उसमें संकेत सहकारी हो गया। तो यों अनेक सहकारी कारण सामग्री पाकर कोई एक मुख्य हेतु कार्य करा देता है।

निरूपित अर्थको कार्यमें व्याप्तताकी अवस्थाका साक्षात्कार न होनेसे नियोगके साफल्यकी असिद्धिका प्रश्न—अब यहाँ बौद्ध शंका करता है कि संकेत सामग्री प्रेरणामें या भावनामें व्यापार नही कराता। क्षणिकवादियोंका यह सिद्धान्त है कि आत्मा एक क्षणको रहता है, आत्मा भी क्या है? एक क्षणका जो ज्ञानमात्र है वही पूरा आत्मा है और लोकमें सब कुछ एक ज्ञान ही स्वरूप है, ज्ञानाद्वैत, क्षणिकवादियोंका यह मत है। तो संकेत सामग्री जो हो, शब्द हो, संकेत हो, यह पदार्थके ज्ञानमें प्रवृत्ति कराता है, प्रेरणा या भावनामें व्यापार नही कराता, क्योंकि जब अर्थकी प्रतीति होती है, वस्तु स्वरूपकी जब प्रतीति होती है तब वह पुरुष स्वय ही उस क्रियामें उस पदार्थकी अभिलाषा करके प्रवृत्ति करता है जैसे कहा कि पूजन करो तो शब्द सुन करके पूजन अर्थका ज्ञान हुआ। यह पूजा है। अब अर्थकी जब प्रतीति हुई तो जो पूजाका फल चाहने वाला है पूजामें शान्ति मानने वाला है वह स्वयं प्रवृत्ति करेगा। भावनावादीका यह मतलब था कि शब्दने प्रवृत्ति कराया और बौद्ध यह कह रहे हैं कि शब्दने प्रवृत्ति नही कराया, शब्दने पदार्थका ज्ञान कराया। अब पदार्थका ज्ञान होनेपर उसका जो अभिलाषी पुरुष है वह स्वयं प्रवृत्ति करता है। जैसे शब्द बोला गया कि यज्ञ करो तो इसमें प्रेषण और अध्येषणमें ही प्रतीति हुई। प्रेषण और अध्येषण ये लोट्लकारके अर्थ हैं। कुछ जान गए, कुछ प्रेरणाकी गई, किसी कार्यके लिए यह उत्सुक हुआ, तो अर्थ भावनाकी प्रतीति इन शब्दोंसे हुई क्योंकि उस अर्थकी प्रतीति न हुई होती कि मेरे लिए यह हुक्म दिया तो नियुक्तत्वकी प्रतीति नही हो सकती, अर्थात् मैं इस कामके लिए लगाया गया हूँ यह काम मुझे सौंपा गया है इस बातकी प्रतीति नही होती। जैसे बालकोंसे कहा गया कि ऐ बालको तुम पढ़ो तो पढ़ो यह सुनकर बालकोंमें क्या उत्पन्न हुआ? पढ़ना उत्पन्न नही हुआ। भावनावादी तो यह कहता है कि शब्द बोला तो शब्दने बालकोंमें व्यापार करा दिया,

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

काम करा दिया, पर क्षणिकवादी कहता है कि शब्दने काम नहीं कराया किन्तु प्रेषण और अध्येषण विधि निमंत्रण आदिक अर्थ होते हैं तो उस अर्थका ज्ञान कराया। यदि उस ढंगसे अर्थका ज्ञान कराना शब्दकी मंसा न हो तो इस प्रकार यह पुरुष अपनेको नियुक्तपनेरूपसे प्रतीति कर ही न सकेगा। गुरुने कहा कि बच्चो पढ़ो तो इस शब्दके द्वारा मैं पठन क्रियामें नियुक्त किया गया हूँ यह जो प्रतीति हुई पढ़ोमें जो प्रत्यय लगा है लोट् लकारका उससे प्रतीति होती है। और, भी देखिये नियुक्तत्व नाम है कार्यमें व्यापारित हो जानेका। मैं इस शब्दके द्वारा नियुक्त हूं। अर्थात् व्यापारित हूँ यह उसका अर्थ हुआ। जैसे कहा कि यज्ञ करो तो उसका अर्थ क्या हुआ भावना नियोगवादियों की ओरसे कि मैं यज्ञमें नियुक्त हूं। वाक्यका नियोग अर्थ निकला। तो अब यहाँ यह देखिये कि कार्यमें व्यावृत्तपनेकी अवस्थाको अपनी ओरसे स्वीकार करके यह शब्द नियोजक नियोज्यको नियुक्त कर रहा है लेकिन कार्यका व्यापार तो आगे होगा। जैसे कहा कि बच्चो पढ़ो तो यह शब्द सुनकर कुछ देर बाद वे पढ़ेंगे। तो जो शब्दका अर्थ निकला उसका व्यापार तो भविष्यकी अवस्था है। और, भविष्यकी अवस्था स्वरूपसे साक्षात् की नहीं जा सकती। जिस कालमें बोला है शब्द, उस कालमें भावी क्रियाका साक्षात्कार तो नहीं है, क्योंकि यदि भावी क्रियाका, स्वरूपका साक्षात्कार हो जाय, जिस कामके लिए कहा गया है वह सब काम वाली घटना यदि विदित हो जाय उसको साक्षात्कार याने अनुभव भी हो जाय तो इसके मायने है कि शब्दसे कालमें क्रिया सिद्ध हो गयी। फिर नियोग क्या रहा? फिर नियोग सफल नहीं हो सकता।

शब्द निरूपित अर्थकी क्रियाकी बाध्यमान प्रतीतिकता होनेसे नियोग में वाक्यार्थताकी असंभवताका प्रश्न—जो शब्द बोला उसका वाच्य कुछ अर्थ तो है, लेकिन जो प्रयोजक शब्द है, उस काम करानेके लिए कहा गया शब्द है, वह बाध्यमानप्रतीतिक होता है, निश्चित नहीं होता। उसमें बाधा भी आ सके यह भी सम्भावना है। किसीसे कहा गया कि पढ़ो तो क्या वह नियमसे पढ़ेगा? अबाध्यमान प्रतीतिक नहीं है। तो जितने भी प्रयोजक नियोजक आज्ञा करने वाले शब्द होते हैं वे बाध्यमान प्रतीति वाले हुआ करते हैं। तो जब भावी क्रियाकी अवस्था शब्द उच्चारणके कालमें नहीं है तो वह अर्थ कैसे बन जायगा? इस प्रकार ये सुगत क्षणिकवादी कह रहे हैं जिसका खुलासा अब आगे कहा जा रहा है। जो प्रयोजक होता है, नियोकता होता है, काम कराने वाला होता है वह बाध्यता प्रतीतिक होता है, तो उसने जो आदेश किया उसमें निर्णय नहीं है कि यह होगा ही। उसमें बाधायें हैं। तो जिस तरह प्रयोजक अपने उस कार्यमें बाध्यमान प्रतीति युक्त होता है उसी तरह प्रयोज्य भी पुरुष भी जिसको कि बताया जा रहा है वह भी काल्पनिक है, और यह भी बात है कि शब्दमे प्रेरणा आदिककी प्रतीति भी नहीं युक्त होती क्योंकि शब्द बुद्धयार्थका वाचक है अर्थात् बुद्धिसे परिकल्पित है। बुद्धिमें ही तो शब्दके अर्थकी कल्पना की कि यह आ, यह ई, इसका यह अर्थ, तो शब्द भी कल्पित है, और जो प्रयोज्य है पुरुष हैं जो सुन रहे हैं

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

वह भी काल्पनिक है, और जो प्रयोजक है उपदेश है वह बाधायुक्त है। जैसे कि प्रेरणा देने वाले शब्दका प्रयोज्य पुरुषके द्वारा, अपने व्यापार रहित, अपने स्वरूपको प्रतीति करने वाले पुरुषके द्वारा उस प्रयोजन शब्दके प्रयोजकत्वकी प्रतीति बाध्यमान होती हुई निराश्रय है। अर्थात् शब्द बोला गया, उसे पुरुषने सुना तो शब्द तो अपने आपके स्वरूपको, विषयको जो कि शब्दमें कहा गया है उस व्यापार युक्त अपने स्वरूपकी प्रतीति तो करता नहीं पुरुष शब्दसे पुरुषने अपनेको व्यापार शून्य ही प्रतीत किया तब फिर प्रयोजकत्वकी प्रतीतिमें बाधा है। शब्द निरर्थक गया, उसका कोई आलम्बन नहीं है, प्रयोज्यत्व प्रतीति भी बाध्यमान होती हुई निरालम्बन है। प्रयोज्यत्वमें प्रतीति भी उस पुरुषके द्वारा जो कि अपने व्यापार युक्त अपनेको प्रतीतिमें नह ले रहा बाधित होता है।

क्षणिकवादमें शब्दसे बुद्धयर्थके ख्यापनकी सिद्धिका कथन—कोई यों कहे कि शब्दसे प्रेषण, अध्येषण प्रेरण आदिक सम्बंधी प्रतीति हो जाती है सो यह भी कथन युक्त है नहीं, क्योंकि वह तो बुद्धिके अर्थको ही प्रकट करता है। शब्द क्या प्रकट करता है ? शब्दमें क्या धरा है। शब्दको जो लोग जानते हैं, उनकी बुद्धिमें जो बात आयी है उसको ही तो शब्द बताते हैं। शब्दमें निजमें तो कुछ नहीं 'भरा' शब्द सुनकर सुनने वालेकी बुद्धिमें जो विकल्प आया बस उसको बताता है तो वह भी शब्द बुद्धिके अर्थको प्रकट करता है। "इस प्रकार उसने समझा" यह तो गुरुका विकल्प हुआ। तो यों गुरु शिष्य प्रतिपादक प्रतिपाद्य दोनोंका अध्यवसाय है और पौरुषेय वचन से भी जो पुरुषने शब्द बोला उसका यह अर्थ मेरे द्वारा जाना हुआ होओ अथवा न हो लेकिन जाना इस प्रतिपत्तिमें उस ज्ञाताका अध्यवसाय पड़ा हुआ है। यों शब्दने क्या बताया ? बुद्धिमें आये हुए विकल्पको। और, अपौरुषेय शब्दसे भी इस प्रकार यह अर्थ मैंने जाना, इस अपौरुषेय शब्दका यह अर्थ विदित होओ अथवा न हो लेकिन जानने वाला तो ऐसा जानता है कि वक्ताके व्यापारको विषय करने वाला अर्थात् जाने हुए अर्थका व्यभिचारी विषय वक्ताके व्यापारमें याने विवक्षामें जो अर्थ है पौरुषय शब्दका अथवा जो बुद्धिमें अर्थ प्रकाशित है अपौरुषेयत्वरूपसे माने गए शब्दका सो उस की प्रमाणता बुद्धिमें आये हुए अर्थके विषयमें है, बाह्य अर्थके कारणसे नहीं है। शब्द का जो अर्थ है वह बाह्य अर्थके कारण नहीं है। जैसे चौकी कहा तो चौकी शब्दका जो अर्थ आया वह इस चौकीके कारण नहीं बनता, किन्तु सुनने वालेने अपनी बुद्धि में चौकीरूपसे ज्ञान किया उसके कारण शब्दका अर्थ चौकी बना। कहते भी हैं कि वक्ताके व्यापारका विषयभूत जो अर्थ श्रोताकी बुद्धिमें प्रकाशमान होता है सो शब्दकी प्रमाणता अर्थात् उपाध्यायके व्यापारसे गम्य अर्थ शिष्यकी बुद्धिमें प्रकाशमान हुआ, उसमें शब्दकी प्रमाणता है, किन्तु बाह्य तत्त्वके कारणसे नहीं है। शब्दने क्या बताया ? जानने वालेकी बुद्धिमें बैठा हुआ अर्थ शब्दको बाह्य अर्थ नहीं बताता शब्द है अचेतन है, उसको सुनकर इस पुरुषने जो अपनी बुद्धिमें विकल्प किया, तो वह है अर्थ शब्दका

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

अर्थ है इस कारणसे वाक्यका अर्थ विवक्षामें, बुद्धिमें आया हुआ ही अर्थ है, भावना नहीं है, ऐसा क्षणिकवादी कहते हैं ।

वाक्यके चार प्रकारके अर्थोंकी चर्चामें क्षणिकवादी द्वारा बुद्धिगत अर्थकी वाक्यार्थताका ख्यापन करनेके प्रयासका कथन—अब यहाँ देखिये ! ४ प्रकारके शब्दके अर्थ बताये गए । नियोगवादी तो यह कहते हैं कि शब्दका अर्थ नियोग है, घट लावो ऐसा सुनकर सुनने वालेने यह समझा कि मुझे घट लानेके काममें नियुक्त किया है, तो नियोग अर्थ हुआ । भावनावादी यह कहता है कि घट लावो । इस शब्द ने उस पुरुषके द्वारा घट लिवा दिया । तो उसने भावन किया, व्यापार कराया । तो विधिवादी यह कहता है कि शब्दका अर्थ, वाक्यका अर्थ इतना ही मात्र है कि यह जान जावे कि यह स्वरूप है, सन्मात्र है, ब्रह्म है, पुरुष है । तो ज्ञानद्वैतवादी यह कहता है कि शब्दका अर्थ बुद्धिमें आया हुआ जो विकल्प है वह है, यह चीज नहीं है । इस तरह चार अर्थ आये श्रुतिवाक्यके । यहाँ क्षणिकवादी प्रभाकरने यह सिद्ध करनेका प्रयास किया कि वाक्यका अर्थ बुद्धिमें आया हुआ विकल्प है, भावना नहीं है ।

प्रत्यक्षकी तरह शब्दसे भी बाह्य अर्थकी प्रतीतिका कथन—अब भावनावादी भट्ट कहता है कि उक्त प्रकारसे बुद्ध्यारूढ़ अर्थको ही शब्दार्थ कहने वाला प्रज्ञाकर परीक्षक नहीं है प्रत्यक्षकी तरह शब्दसे भी बाह्य अर्थकी प्रतीति होती है क्षणिकवादीने यह कहा था कि शब्दसे बाह्य अर्थ नहीं जाना जाता । किसीने कहा पुस्तक तो उस पुस्तकसे यह कागज वाली पुस्तक नहीं जानी गई किन्तु जानने वालेके ज्ञानमें जो ज्ञान हुआ विकल्प हुआ, समझ बनी उसको कहा पुस्तक । तो इसके विरुद्धमें भट्ट यह रहे हैं कि शब्दसे बाह्य अर्थ प्रतीत होता है । जैसे कि प्रत्यक्षसे बाह्य अर्थ प्रतीत होता है । देखो प्रत्यक्ष ज्ञानसे ये सब बाह्य चीजें मालूम हो रही है ना, इसी तरह शब्दसे भी ये बाह्य अर्थ मालूम होते हैं । जैसे कि ज्ञाताके उपयोगकी अपेक्षा रखने वाले प्रत्यक्षसे प्रत्यक्षमें आये हुए बाह्य अर्थका ज्ञान होता है, किसी पुरुषने बाह्य अर्थका ज्ञान किया, किस ज्ञानसे किया ? प्रत्यक्ष ज्ञानसे । कैसा था वह प्रत्यक्षज्ञान कि उपयोगकी अपेक्षा रखने वाला था । हम उपयोग न लगायें और सामनेसे कुछ निकल जाय तो उस बाह्य अर्थकी प्रतीति नहीं होती इसलिए यह विशेषण दिया कि उपयोग सामग्रीकी अपेक्षा रखते हुए प्रत्यक्षसे बाह्य पदार्थमें प्रतीति हो जाती है उस ही तरह संकेत सामग्रीकी अपेक्षा रखते हुए शब्दसे शब्दविषयक अर्थकी प्रतीति हो जाती है । यदि ऐसा न माना जाय अर्थात् कोई कहे कि घट आदिक बाह्य पदार्थोंका ज्ञान नहीं होता है तो यह बतलावो कि शब्दसे बाह्य अर्थमें प्यासे पुरुषको यह ज्ञान क्यों होता कि यह जल है और फिर जलके समीपमें जाना और उसका पान करना, लाना अथवा उसमें स्नान करना यह भी फिर घटित न हो सकेगा तो मानना ही चाहिए कि शब्दसे बाह्य अर्थकी प्रतीति होती है । यहाँ एक पक्षमें तो यह कहा जा रहा कि शब्दसे बाह्य अर्थका ज्ञान

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

नही होता, किंतु ज्ञानमें आया हुआ विकल्प ही शब्दसे जान जाता है। तो दूसरा पक्ष यह सिद्ध कर रहा कि नहीं–नहीं, जैसे प्रत्यक्षसे बाह्य अर्थका ज्ञान माना है इसी प्रकार शब्दसे भी बाह्य अर्थका ज्ञान होता है।

शब्दसे बाह्य अर्थकी प्रतीति होने व न होनेकी भट्ट और प्रज्ञाकरकी परस्पर चर्चा– अब वहाँ क्षणिकवादी यह कहते हैं कि शब्दसे बाह्य अर्थका ज्ञान नही हुआ, किन्तु शब्दसे जो बाह्य बुद्धिमें आये हुए विकल्पका ज्ञान हुआ फिर बाह्यमें जो पदार्थ आया उस पदार्थके सम्बन्धमें उपचारसे कहते हैं कि शब्दने इस अर्थको बताया। शब्द बाह्य अर्थका ज्ञान कराता, यहाँ यह भी नही कह सकते। जब शब्द बाह्य अर्थका ज्ञान कराता है तो बाह्य अर्थका ज्ञान होनेसे उस पदार्थमें इस पुरुषकी प्रवृत्ति होती है क्योंकि वह पुरुष उसे चाहता है तो उस पुरुषकी प्रवृत्ति स्वयं हुई, उस पदार्थमें। जैसे प्यासे पुरुषने जलका ज्ञान किया, किसीने कहा—जल। उसने किया ज्ञान कि यह है जल ! अब जलका ज्ञान करनेसे ही उस जलमें जलके अर्थकी प्रवृत्ति हुई तो शब्दने प्रवृत्त नहीं कराई, शब्द अप्रवर्तक ही रहा, भट्ट कहते हैं यह नहीं कह सकते, क्योंकि ऐसा कहनेपर तो हम यह भी कह देंगे कि प्रत्यक्ष आदिक ज्ञान भी अप्रवर्तक रहता है। प्रत्यक्ष ज्ञान भी प्रवृत्त नही कराता। कैसे ? यह कह दिया जायगा कि प्रत्यक्षसे ज्ञानका ज्ञान किया। फिर उस पदार्थमें पुरुषको अभिलाषा उत्पन्न हुई, तो प्रवृत्ति हुई वह अभिलाषासे प्रवृत्ति हुई, पदार्थके ज्ञानसे नही हुई प्रत्यक्षसे नही हुई, यह भी तो कहा जा सकता है। यहाँ बौद्ध यह कह रहे हैं कि शब्दसे बाह्य अर्थका ज्ञान भी मान लिया जाय तो भी उस बाह्य अर्थको उठानेके लिये, पीनेके लिये, उपयोगमें लानेके लिये जो प्रवृत्ति हुई है सो उस पदार्थके ज्ञानसे ही हुए शब्दने प्रवृत्ति नही कराई। तो उसके उत्तरमें भट्ट यह कह रहे हैं कि इस तरह हम यह भी कह देंगे कि प्रत्यक्षसे जो ज्ञान हुआ उससे हुई उसमें अभिलाषा। तो अभिलाषासे प्रवृत्ति हुई, प्रत्यक्ष ज्ञानने प्रवृत्ति नहीं कराई। यदि बौद्ध यह कहें कि परम्परासे प्रत्यक्ष ज्ञानको प्रत्यक्ष मान लो। पदार्थमें पदार्थका ज्ञान कराया, फिर उस पदार्थमें हो गई अभिलाषा उस अभिलाषासे हुई प्रवृत्ति, तो प्रवृत्तिका साक्षात् कारण क्या है ? अभिलाषा। और अभिलाषा जगनेका कारण क्या है ? उसका ज्ञान। तो यों परम्परासे वह ज्ञान प्रवर्तक मान लिया जायगा तो भट्टके फिर इस तरह वचनको भी प्रवर्तक मान लो। शब्दसे हुआ अर्थका ज्ञान फिर उस ज्ञानसे उस ज्ञाताको चाह होनेके कारण हुई प्रवृत्ति तो इस तरह उस प्रवृत्तिका परम्परा कारण शब्दको मान लिया। जो दलील तुम शब्दकी अप्रवर्तकताके लिए दोगे वही प्रत्यक्षकी अप्रवर्तकताके लिए होगा और जैसे कि प्रत्यक्षका पदार्थ क्या है ? पानी आदिक। प्रत्यक्षसे जाना कि यह पानी है, और फिर प्रत्यक्षके उस पदार्थमें प्रतीति होती है उसी तरह वाक्यका अर्थ क्या है ? भावना और प्रेरणा। और, उस ही भावना और प्रेरणामें प्रतीति अबाधित है। इस तरह शब्दका अर्थ बाह्य अर्थ है। ज्ञानाद्वैतवादियोंका यह कहना कि शब्दका अर्थ तो बुद्धिमें

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

आया हुआ विकल्प है, यह युक्त नहीं है।

प्रत्यक्षकी भांति शब्दसे भी बाह्य अर्थकी अवाध्यमान प्रतीतिका कथन—यहाँ बौद्ध कहते हैं कि देखो जैसे कि शब्द बोला गया कि यह करो तो इस शब्दसे हुआ क्या ? कार्यमें व्यापारितपना हुआ, अर्थात् यज्ञ करो ऐसा शब्दसे यज्ञरूप कार्यमें व्यापार बना। यही है पुरुषका नियुक्तपना। कामके नियुक्त कर दिया तो यह हुआ शब्दसे मतलब। सो अब देखो कि कार्य बन जाय, यज्ञ हो गया ऐसी अवस्था उस समय तो नहीं है जिस समय कहा जा रहा यज्ञ करो। जैसे कहा कि पूजा करो तो पूजा करोमें जो अर्थ भरा है भविष्यमें होगा कि उस समय है ? पूजा सम्बन्धी कार्य भविष्यमें होगा। अभी तो कहा जो रहा है पूजा करो, तो पूजा करनेका अर्थ ही है पूजन और वह पूजन है भविष्यकी अवस्था, और उस भविष्यकी अवस्थाका अभीसे ज्ञान कैसे किया जा सकता, क्योंकि यदि भविष्यके पूजन करनेका इस समय साक्षात्कार हो रहा है तो फिर नियोग ही क्या रहा ? नियोग निष्फल रहा, लगना किस लिए ? कार्य तो अब भी बना बनाया है, इससे व्यावृत्तपनेकी प्रतीति बाध्यमान है। आपसे कहा कि पूजा करो, पता नहीं आप कर पावेंगे कि नहीं। भट्ट कहता है कि यह कथन अटपट है, क्योंकि इस तरहकी बाध्यमान प्रतीति तो प्रत्यक्ष आदिकमें भी बतायी जा सकती है। वहाँ भी यह कहा जा सकता है कि प्रत्यक्ष भी प्रवर्तकपना कहलाया . प्रवृत्तिके विषयको दिखा देना। प्रवृत्तिका विषय अर्थक्रियाकारी स्नान पान आदिक करा देने वाला पानी आदि है और वह उसकी अर्थक्रियाकारिता भविष्यमें है। वह तो साधन समझादेने वाले ज्ञानके द्वारा प्रत्यक्षके द्वारा साक्षात्कार नहीं हो रहा। यदि साक्षात्कार हो गया हो तो प्रवृत्ति करना निष्फल है। तो यों यह भी क्या कहा नहीं जा सकता कि प्रत्यक्षकी प्रवर्तकता भी बाध्यमान प्रतीतिक है। उसकी भविष्यमें भी बाधा सम्बन्धित है, इस कारण अर्थ अबाध्यमान है, इसमें बाधा नहीं दी जासकती यदि शब्दकी प्रवर्तकतामें दोष दिया जाता है तो वही दोष प्रत्यक्षकी प्रवर्तकतामें है।

बुद्धयारूढ़ अर्थको विषय करनेपर भी तो बाह्य अर्थकी भूतार्थताका प्रतीतिकी समीचीनता—यहाँ क्षणिकवादी कहते हैं कि यद्यपि प्रत्यक्षकी अर्थक्रियाकारिता भविष्यमें है अर्थात् प्रत्यक्षने जो पदार्थ जाना है उसका काम भविष्यमें है तो भी साधनको जानने वाले प्रत्यक्षज्ञानमें उसे प्रतिभासित ही समझिये ! अर्थात् जैसे कहा कि पानी पियो तो पानी पीना तो भविष्यकी बात है न, और कहाँ पहिले तो पानी पियो, ऐसा कहनेमें इसकी अर्थक्रिया बादमें हुई। इसी तरह जल देखा किसी प्यासे पुरुषने, अब जल देखकर प्यास बुझानेकी क्रिया तो भविष्यमें होगी, प्रत्यक्ष हुआ पहले तो भविष्यमें क्रिया होगी तो उस क्रियाका व ज्ञानका आधार एक ही है अतः अर्थक्रिया भी प्रतिभात समझिये ! जिस कारणसे शब्दसे प्रवृत्ति नहीं मानते, उसी कारणसे प्रत्यक्षसे भी प्रवृत्ति न होगी। यों भावनावादी द्वारा दिये गये दोषको मेटनेके

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

लिये क्षणिकवादीके द्वारा यह कहा जा रहा कि नहीं, अर्थक्रियाकारिता भी तुरन्त ही प्रतिभात है, क्योंकि प्रत्यक्षमें और अर्थक्रियामें एकत्वका अध्यवसाय है। ऐसा यदि क्षणिकवादी मानते हैं तो वही बात शब्दके पक्षमें भी सिद्ध होती है। शब्दसे ही पुरुष की भावना बनी, और फिर अर्थक्रियामें व्यावृत हो जाना यह भी उस पुरुषमें बनी सो प्रत्यक्षका व भाविनी क्रियाका एक ही आधार है। इस कारणसे प्रत्यक्षकी प्रवर्तकता अबाध्यमान है तो यही बात शब्द भावनामें है। पुरुषमें और व्यावृत्तताकी अवस्थामें एकत्वका अध्यवसाय होनेसे शब्दसे ही अर्थक्रियाकारिता प्रतिभात हुई ऐसा मान लिया जाना चाहिए। इसपर क्षणिकवादी कहता है कि ऐसा माननेमें तो यही मान लिया गया कि बुद्धिमें आरूढ़ अर्थ ही शब्दका अर्थ हुआ याने विवक्षामें बुद्धिमें जो विकल्प आया वही विकल्प तो शब्दका अर्थ बना। इसपर भट्ट कहता है कि तो भी याने प्रत्यक्षका विषय बुद्धिमें आया हुआ पदार्थ है सो यहाँ अर्थ जो विषय हुआ ही है, केवल विकल्पको ही प्रत्यक्षका विषय क्यों मानते हो ? और, यदि बुद्धिमें निश्चित् किया गया बाह्य पदार्थ प्रत्यक्षका विषय नहीं मानते तो इसका सीधा भाव यह हुआ कि प्रत्यक्ष निराश्रय हो गया। प्रत्यक्षज्ञानने किसी भी अर्थको नहीं जाना। वह तो केवल स्वप्न है, बुद्धिका विकल्प है।

शब्दके प्रवर्तकत्वको असिद्ध करनेके लिये क्षणिकवादियों द्वारा प्रत्यक्ष की अप्रवर्तकताको सम्मत कर लेनेकी मीमांसा—अब यहाँ बौद्ध कहते हैं कि परमार्थ दृष्टिसे देखा जाय तो प्रत्यक्षज्ञान भी प्रवतक नहीं है क्योंकि ज्ञानकी प्रवृत्ति स्वयं से होती है बाह्य अर्थसे नहीं होती, तब ज्ञानाद्वैतकी ही सिद्धि हुई। क्षणिकवादमें एक ज्ञानाद्वैतका सिद्धान्त है, उनका मन्तव्य है कि जगतमें सिर्फ ज्ञान ही ज्ञान है। ज्ञानके अतिरिक्त अन्य कोई पदार्थ नहीं है। जो पदार्थ दिखते हैं वे सब स्वप्नवत् भ्रम हैं, जैसे कि स्वप्नमें अनेक पदार्थ दिखते हैं पर वे हैं क्या ? कुछ भी नहीं। केवल भ्रम मात्र है। इसी तरह भ्रममें घर चौकी, पुस्तक, आदमी आदिक सब दिख रहे हैं, पर हैं कुछ नहीं, परमार्थसे सब ज्ञान ही ज्ञान है। ज्ञानमें आया तो ये पदार्थ कहे जायेंगे, ज्ञानमें न आया तो ये पदार्थ कुछ भी नहीं हैं। तो प्रवृत्ति जो हुई वह ज्ञानमें ज्ञानसे हुई है, बाह्य अर्थसे नहीं हुई, क्यों तत्त्व तो ज्ञानाद्वैत ही है, इसपर भट्ट उत्तर देता है—तब ज्ञानाद्वैत तक ही क्यों रह पुरुषाद्वैत तक पहुंचो, इसमें फिर पुरुषाद्वैतकी कैसे सिद्धि नहीं होती ? पुरुषाद्वैत अ ब्रह्माद्वैत। ब्रह्माद्वैत है केवल चैतन्यरूप। उसमें अन्यका विकल्प ही नहीं है। तो अर्थको तुम मानते नहीं हो कि प्रत्यक्षसे बाह्य अर्थकी प्रवृत्ति हुई। ज्ञानसे ज्ञान ानकी प्रवृत्ति हुई। चाहे पानी पिये चाहे कुछ करे, सो इस तरह फिर एक सन्मात्र ब्रह्मकी सिद्धि मान लो। इस पर बौद्ध कहते हैं कि ब्रह्माद्वैत तो यों नहीं माना जा सकता कि नित्य सर्वव्यापी उस कल्पित एकका सम्वेदन नहीं होता, ऐसा ज्ञान नहीं होता, ऐसा परिचय नहीं हो रहा कि कोई नित्य हो, व्यापी हो और एक हो ज्ञानाद्वैतमें तो यह है कि अनित्य है ज्ञान और व्यापक नहीं है, एक रूप नहीं

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

है। ज्ञानाद्वैतवादी क्षणिकवादियोंका ही एक भेद है। वे लोग ज्ञानको अनित्य अव्यापक और नानारूप मानते हैं, किन्तु ब्रह्म है नित्य, सर्वगत एक। सो बौद्ध कह रहे हैं कि ऐसे ब्रह्मका ज्ञान नही होता, इस कारण पुरुषाद्वैतकी सिद्धि नही है। इसपर भट्ट उत्तर देता है तब फिर क्षणिक निरंश एक ज्ञानाद्वैतकी भी संवित्ति कैसे हो जायगी ? किसीको भी किसी भी समय नही होगी। तो यों ज्ञानाद्वैतकी भी सिद्धि नही हो सकती है। इस कारणसे पुरुषाद्वैतकी तरह सम्वेदनाद्वैतकी भी सर्वथा व्यवस्था नही बनायी जा सकती है। जैसे कि पुरुषाद्वैत कुछ नही है यों ही सम्वेदनाद्वैत भी कुछ नही है।

भेदाभेदात्मक वस्तु माननेपर प्रत्यक्षमें और शब्दमें प्रवर्तकत्वकी संभवता – भैया, देखिये ! प्रत्यक्षसे जो जाना गया है और अब जो पाया जायगा उन अर्थों में सर्वथा भेद माने तो ऐसा भेद माननेपर प्रत्यक्ष प्रवर्तक नही होसकता। इस कारण वस्तु मानना चाहिए भेदाभेदात्मक। यदि यह कहो कि एक ही वस्तु भेदरूप हो और अभेदरूप हो यह कैसे हो सकता ? तो उत्तरमें कहते कि ऐसा तो तुमने भी माना कि एक चित्रज्ञान, विरुद्ध नाना ज्ञानोंरूप होता है। तो भेद और अभेद यद्यपि परस्पर विरुद्ध है लेकिन चित्रज्ञानकी तरह वस्तु भी दोनोंरूप बन जायगा। चित्राद्वैतवादसम्प्रदाय भी बौद्ध लोगोंका भेद है। क्षणिकवादी चित्राद्वैत मानते ज्ञानाद्वैत मानते, और कोई क्षणिक सम्प्रदायी बाह्य अर्थ भी मानते। अनेक प्रकारके क्षणिकवादियोंके मतव्य है। यदि बौद्ध यह कहें कि भेद मानना और अभेद मानना यह कोरी कल्पनाकी बात है, तो यदि भेद और अभेदको काल्पनिक मानते हो तब फिर सर्वथा किसी पदार्थ में अर्थक्रिया ही नही हो सकती। जब वस्तु ही काल्पनिक है तो उसकी अर्थक्रिया कैसे हो ? और, जब भेदाभेदात्मक मान लिया तो क्या बात बनी कि शब्दसे क्रिया व्यावृत्ति अवस्थाका जो कि प्रकटरूपमें भविष्य कालमें होने वाला है उसकी शक्तिरूपसे पुरुषका कथंचित अभेद है याने शब्दको सुनने वाला पुरुष काममें व्यापार करता है तो काममें जो व्यापार की गई अवस्था है वह पुरुषके ही तो है और पुरुषने ही शब्द सुना तो उस पुरुषमें और उस भावी क्रिया व्यापारमें कथंचित् अभेद है। सो शब्दज्ञानसे उस ही समय जब कि पुरुषने कोई वाक्य सुना उस ही कालमें वाच्य अर्थ व भावना प्रतिभास होनेपर भी नियोग निष्फल नहीं होता।

ज्ञेयता और व्याप्तताामें अन्तर रहित कालभेद होनेपर प्रत्यक्ष व नियोगकी सफलता—और भी देखिये ! जैसे कि प्रत्यक्षसे देखा कि यह पानी है। अब प्यासा आदमी क्या करे ? पानीको पियेगा। तो प्रत्यक्षने देखा ८ बजे और पानी पीनेका काम बना ८ बजकर एक मिनटपर तो काम बना बादमें और प्रत्यक्षने जाना पहिले तो क्षणिकवादी यह कहता है कि प्रत्यक्ष पानी पिलानेमें प्रवर्तक है। तो पानी पीनेमें प्रवृत्ति कराया प्रत्यक्ष ज्ञानने और कराया भविष्यकी क्रियामें प्रवृत्ति। तो जैसे प्रत्यक्ष ज्ञान पुरुषने ही जाना और उसी पुरुषने एक मिनट बाद प्रवृत्ति की तो उस

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

पुरुषने दोनोंका मिलाप करके मानते हो कि प्रत्यक्षने प्रवृत्ति कराया ऐसी ही शब्दकी बात है। शब्द सुना ८ बजे प्रवृत्तकी ८ बजकर एक मिनटपर, तो वही लगाव इसमें है इस कारण यहाँ भी यह कहना होगा कि शब्द प्रवर्तक होता है। उस प्रत्यक्षमें जिसने कि जलको जाना और उस समय ही इस जलमें प्यास बुझानेकी योग्यता है इसका भी ज्ञान हुआ। अब व्यक्तिरूपसे जो अर्थक्रिया होती, मायने प्यास बुझाते समय पीते समय जो अनुभव होता वह अनुभव तो नहीं है इसलिए अर्थकी प्रवृत्ति हो जाती है। जैसे प्रत्यक्षकी प्रवर्तकता मानने वाले यह कहते हैं कि प्रत्यक्षने जाना कि यह पानी और उसी समय प्यास बुझ जाय तो प्रत्यक्ष प्रवर्तक न होगा। प्यास बुझानेका काम कुछ देरमें होना चाहिए सो होता है। जाना ८ बजे कि यह पानी है और प्यास बुझाया ८ बजकर एक मिनटपर, लेकिन पुरुष तो एक है जिसने जाना वही अनुभव करेगा प्यास बुझानेका। परन्तु काल अभी ऐसा है कि जिस समय प्रत्यक्षने जाना उस समय प्यास बुझानेका अनुभव नहीं है इसलिए प्रत्यक्षका प्रवर्तकपना सफल हो जाता है तो भावनावादी भट्ट कहते हैं कि शब्दमें भी यही बात है। भट्ट कहते हैं कि शब्दात्मक पुरुषको ज्ञान तो हो गया कि यह कार्यमें लगा देनेकी योग्यता रखता है, जैसे शब्दने कहा कि स्वर्गकामी पुरुष यज्ञ करे तो शब्दके सुनते ही उसने यह जान लिया कि यज्ञमें लगनेकी योग्यता है फिर भी व्यक्त काय अर्थात् यज्ञ कर ही रहा हो ऐसा व्यापारका अनुभव तो नहीं है याने जैसे जिस समय यह कहा कि पूजा करना चाहिए उस समय पूजा करनेका अनुभव नहीं है पूजा करेगा बादमें, तो व्यक्त कार्यमें व्यापृतपनेका अनुभव न होनेसे इस पुरुषका नियोग भी सफलताको प्राप्त हो जाता है। अर्थात् शब्द नियोकता है, पुरुष नियोज्य है और यह नियोग है और कर रहा है यह पुरुष ही, हो रहा है भावनारूप, सो वह सफल है, क्योंकि इसी प्रकारकी प्रतीति बराबर प्रत्यक्षसे सिद्ध है। अबाध्यमान सिद्ध है इस कारणसे क्षणिकवादियोंका यह कहना युक्त नहीं है कि जो ज्ञानमें विकल्प आया है वह है शब्दका अर्थ। जैसे कहा चौकी तो यह चौकी शब्दका अर्थ नहीं। बौद्ध लोग मानते हैं कि शब्दका अर्थ तो उस पुरुषके ज्ञानमें जो चौकीका आकार विकल्प आया वह है शब्दका अर्थ। शब्दका अर्थ यह बाह्य पदार्थ नहीं है, सो यह बात नहीं बनती। कैसे ? जैसे कि विधिवादी लोग कहते हैं कि शब्द का अर्थ तो सन्मात्र ब्रह्म है। जैसे किसीने कहा कि रोटी ब नाओ ! तो इसका अर्थ विधिवादी कहता है कि सन्मात्र ब्रह्म। किसीने कहा कि इसे पीटो, तो विधिवादी अर्थ लगाते सन्मात्र, तो जैसे यह अर्थ युक्त नहीं है इसी प्रकारसे विवक्षामें बुद्धिमें आया हुआ विकल्प शब्दका अर्थ हुआ, यह भी युक्त नहीं है।

भावनावादके विरोधमें प्रज्ञाकर द्वारा परिकल्पित निबंधका भट्ट द्वारा उल्लेखीकरण —अब भट्ट कहते हैं कि प्रज्ञाकरने जो यह कह रखा है कि नियोग यदि शब्द भावना रूप वाक्यार्थ है, अर्थात् कोई वाक्य बोला उसका अर्थ यदि शब्द भावना रूप नियोग है तब जैसे कहा कि देवदत्त पचेत अर्थात् देवदत्त रसोई पकावे तो

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

इस वाक्यके सम्बंधमें कुछ कहा जारहा है। देखो व्याकरणमें एक नियम है कि कर्ताका अनभिधान होनेसे कर्ता और करणमें तृतीया विभक्ति होती है, यदि कर्ताको कर्तारूपसे प्रधानरूपसे नही कहा गया तो तृतीयाकी विभक्तिमें उसका प्रयोग होगा और कर्ताके अभिधानमें अनभिहितका अधिकार होनेसे तथा लिङ प्रत्ययके द्वारा भी उक्त होनेसे तृतीया विभक्ति नही प्राप्त होती है। अब यहाँ देखिये भावनारूप शब्दार्थ माननेपर अभिधान तो भावनाका हुआ सो कर्ताको भावनाका विशेषणरूप माना है सो भावना व कर्ता दोनोंकी प्रतीति क्रमसे ही संभव है सो जब भावना विदित हुआ तब कर्ताका अभिधान नही रहा, फिर तो बादमें विदित कर्तामें तृतीया विभक्ति हो जाना चाहिए। हाँ यदि भावना अर्थ न मानो तो इसमें कर्ताका तो अभिधान बन जाता है सो क्रिया में लगा हुआ लिङ प्रत्यय भी इसकी पुष्टि करता है। तो शब्दोंका वाक्यका अर्थ भावना माननेसे भावनाका अभिधान रहा कर्ताका अभिधान न रहा। इस कारण कर्ताकी तृतीयका विभक्ति होगी। और, जब कर्ताका अभिधान करत तो न कहते हुएको ही कहनेके कारण और उस कर्ताकी लिङ प्रत्ययसे ही यथावत् सिद्ध होनेके कारण तृतीया विभक्ति नही होती। इस बौद्धके इस प्रकारसे कहनेका भाव यह है कि यहाँ पुरुष प्रधान नही है, भावना प्रधान नही है। कर्ता तो एक ज्ञानमात्र है।

भट्ट द्वारा उक्त कथनका निराकरण करके भावनाको वाक्यार्थ सिद्ध किये जानेका प्रयाय—भट्ट कहते हैं कि यह कहना बौद्धोंका अयुक्त है क्योंकि इसकी भावनाके विशेषण रूपसे कर्ताको कहा ही है। भावना एक धात्वर्थ है। क्रियाका अर्थ है और वह क्रिया कर्तृक हो रही है अर्थात् क्रियाको करने वाला कौन है? देवदत्त। तो जैसे 'देवदत्त पकाओ' यह वाक्य बोला तो, देवदत्त पकानेका काम करे दूसरा यह वाक्य बोला तो, दोनों वाक्योंमें कर्ता तो देवदत्त ही है। रसोई पकानेकी क्रियासे सहित करनेकी क्रियाका तो देवदत्त ही कर्ता है यह प्रतीत होता है। भावनाके विशेषणरूपसे कर्ता होता है और उन दोनोंकी क्रमसे पहिले कर्ताका प्रतिभास न होनेसे तृतीया प्राप्त होती है, ऐसी आशंकापर यह कहा जाता है कि यहाँ विशेषण और विशेष्य भावोंका एक ही साथ प्रतिभास होनेमें विरोध नही है। जैसे कहा—नील कमल तो वहाँ कोई कहे कि पहिले नील जाना फिर कमल जाना या पहिले कमल जाना फिर नीला जाना सो बात नही है। उनका एक साथ प्रतिभास है, इसी कारण प्रज्ञाकरका यह वचन संगत नही है कि क्रमप्रतीति होनेसे पहिले तो भावनाका ज्ञान होता है और उस भावना के ज्ञानकी सामर्थ्यसे फिर विशेषण विशेष्य भावोंके प्रकारमें कर्ता जाना जाता है सो बात नही। कर्ता और भावना ये दोनों एक साथ प्रतिभासमें आ सकते हैं। इसलिए शब्दका अर्थ भावना है, उसमें दोष नही दिया जा सकता।

व्यापारका अभेद होनेसे, एकत्व होनेसे क्रियारूप भावनाके द्विवचनादित्वकी प्राप्तिके प्रसंगकी आशंका—यहां क्षणिकवादी शंका करते हैं कि यदि

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

शब्दका अर्थ व्यापारमात्र है और वह है कर्तासे अभिन्न, कारकोंसे अभिन्न, तो चूँकि व्यापारके कर्ताओंसे व्यापारकी एकता हुई सो जब कर्ता अनेक हैं, तो उस व्यापारमें भी दो वचन और बहुवचन प्राप्त होना चाहिए। शायद यह कहो कि कारकके भेदसे अपने व्यापारमें भेद होगा, जैसे कि बोला— यज्ञदत्त और देवदत्तोंके द्वारा चटाई की जा रही है। तो यहाँ कर्मकारक हो गया और कर्म है चूँकि एक अतएव क्रियामें भी एकवचन प्राप्त हुआ। तो कारकके भेदसे व्यापारमें भेद होगा, व्यापारकी एकतासे दो वचन, बहुवचन न होगा, यह बात कहना बड़ी असमंजस जैसी है, क्योंकि फलरूप कर्म के एकत्व होनेसे क्रियाका एकत्व प्राप्त होता है और कर्ताकी अपेक्षासे क्रियाका द्वित्व होता है यों कर्ताके भेदसे भेद माननेपर कर्मके एकत्वसे क्रियाका एकत्व माननेपर अर्थात् कारककी प्रधानतासे क्रियाका एकत्व, अनेकत्वका प्रकार माननेपर प्रज्ञावन्त पुरुषोंको अब क्या करना चाहिए? जब क्रियाके एकत्व और अनेकत्वका प्रकार कर्ता के भेदसे माना तो अब क्या करना है? कुछ भी नहीं।

व्यापारके एकत्वसे क्रियामें द्विवचनादिके प्रसङ्गकी आशंकाका समाधान— क्षणिकवादीकी उक्त आशंकापर भट्टका उत्तर है कि यह कहना भी असत्य है क्योंकि प्रत्यक्षसे ही ऐसी प्रतीतिका विरोध है। देखिये! धात्वर्थके भेदसे एक वचनकी प्रतीति होती है। जैसे कहा— देवदत्तयज्ञदत्ताभ्यां आस्यते, अर्थात् देवदत्त और यज्ञदत्त हैं। इसको एक भाववाच्यमें कहा गया है। और भाववाच्यके धात्वर्थके भेदसे यहाँ एकवचन बना है। यदि कर्ताकी मुख्यता रखते हो तो कर्ताके भेदसे यहां दो वचन होता। देवदत्तयज्ञदत्तौ स्तः अर्थात् देवदत्त और यज्ञदत्त हैं तो यहां भाव-वाच्यमें जो एकवचन कहा गया है वह धात्वर्थ नियोग नहीं है। नियोग तो तिङ् प्रत्ययको लिए होता है अर्थात् पढ़ो, पढ़ना चाहिए आदिक रूपसे जो उस धातुमें लकार प्रत्यय लगा उसके भेदसे नियोगकी व्यवस्था बनती है और वह है पुरुषका व्यापार। सो वह पुरुषका व्यापार धात्वर्थसे भिन्न है, क्रियासे पृथक है और कर्ता द्वारा साध्य है। यद्यपि क्रिया उसमें भी लीन है, मगर उस क्रियाका Mood क्या है और किस तरहसे उसका नियोजन किया गया है। यह तो भिन्न है और कर्तृसाध्य है, क्योंकि कर्ताके भेदसे प्रत्यार्थका भेद हो जाता है, इसी कारणकी चूँकि वह कर्तासाध्य से जाना गया है तो उस वाच्यमें द्विवचन हो जाता है। इसमें कोई असमीचीनता नहीं है।। जैसे कहा—देवदत्तयज्ञदत्तौ कटंकुरुतः, तो यों कर्ताके भेदसे भेद बना, परन्तु धात्वर्थ तो शुद्ध होता है, वह कारकके भेदसे भेदको प्राप्त ही होता। जो धातुमें मूल अर्थ है उसमें भेद नहीं होता। कर्ताके भेदसे उसमें दो वचन और बहुवचन एक वचन का अन्तर पड़ता है। इस कारण यह कहना कि व्यापारकी एकता होनेसे द्विवचन प्राप्त होना चाहिए, यह बात संगत नहीं है।

कर्तृसम्बन्धसे, कारकभेदसे प्रत्ययभेद माननेपर धात्वर्थमें प्रत्ययभेदके

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

प्रसंगकी आशंका—अब यहाँ क्षणिकवादी योगाचार प्रश्न करते हैं कि यदि कर्ताके सम्बन्धसे प्रत्ययरूप नियोगमें भेद होता है अर्थात् कर्ताके सम्बन्धसे अथवा कारकके भेद से यदि प्रत्यय भेद हो जाता है. तो यह प्रत्यय भेद धात्वर्थके भी हो जाय अर्थात् जैसे देवदत्तयज्ञदत्ताभ्यां आस्यते देवदत्त यज्ञदत्त है, इनमें अस् धातुके अर्थमें सत्ता बतायी गई है तो इस सत्तामें भी भेद हो जाय अर्थात् धातुका जो अस्तित्वरूप अर्थ है उसमें भो भेद हो जाय, क्योंकि धात्वर्थ भी पुरुषके द्वारा निष्पाद्य है इस हेतुसे कारकके भेद से धात्वर्थमें भी भेद हो जाय। जब कर्ता दो हैं या कर्ता कर्म कारकका प्रयोग है तो फिर धातुमें भीभेद हो जाना चाहिए किन्तु हम योगाचारोंके यहाँ भेदा भेदकी व्यवस्था विवक्षाके आधीन मानते हैं अर्थात् भेद और अभेद ये काल्पनिक हैं और तभी लकारके द्वारा कहा जानेसे कारकका प्रत्ययरूप नियोगका भेद अथवा अभेद बन जाता है। एक वचन आदिकका भी रचना बन जाता है, क्योंकि भेद और अभेदकी व्यवस्था कल्पना से उत्पन्न हुई है और लकारोंका प्रयोग, कारकोंका प्रयोग ये सब कल्पना जन्य है। तब बात यों बन जाती है कि कर्ता और कर्मके वाच्य भेदसे क्रिया भेद विवक्षित हो जाता है। वह क्रिया जब लकार प्रयोगसे कही जाती है उस समय कर्मवाच्य कर्तामें तृतीया विभक्ति होती है तथा कर्मके अनुसार उसका वचन होता है और जब उस लकार प्रयोगसे कर्ता कहा जाता हैं, कर्ताकी प्रधानता होती है तो प्रथमार्थक होनेसे प्रथमा विभक्ति होती है, साथ ही कर्ताके अनुसार वचन होता है। तात्पर्य यह है कि कर्तृवाच्यके प्रयोगमें कर्ताकी प्रधानता है, वहाँ क्रिया कर्ताके अनुसार वचनका अनुसरण करेगी, किन्तु कर्मवाच्यमें कर्मप्रधान है कर्ताका अभिधान नहीं है इस कारण वहाँ कर्तामें तृतीया विभक्ति लगेगी और कर्मके वचनके अनुसार क्रियाका वचन लगेगा। जैसे कि प्रयोग किया–महात्माके द्वारा किया जाता है वह है कर्मवाच्यका प्रयोग और कहना कि महात्मा करता है यह है कर्तृवाच्यका प्रयोग। सो कर्म वाच्यमें कार्यकी मुख्यता हुई और कर्तृवाच्यमें कर्ताकी मुख्यता रही।

भेद अभेदकी प्रतीतिसिद्धता होनेसे उक्त आशंकाका अनवसर—उक्त चर्चापर भट्ट उत्तर देते हैं कि यह कहना भी पक्षपात मात्र है, क्योंकि सौगतके द्वारा माना गया भेद अभेद वस्तुतः प्रतीतिसिद्ध है, काल्पनिक नहीं, किन्तु वस्तुमें उस प्रकार से पाये जाते हैं। यदि भेद और अभेद वस्तुरूप न हो तो उसकी विवक्षा भी नहीं बन सकती। तो जब प्रतीतिसिद्ध है भेद और अभेद और उनकी विवक्षा बनती है तो व्यवहार भी पारमार्थिक सिद्ध हो जाता है। तब इस प्रकार जब कि क्रियाका अर्थ कर्तृ निबन्धनक बना। जैसे देवदत्त चटाई को करता है तो यहाँ करोत्यर्थ करनेका अर्थ देवदत्त कर्तृक है, तब यह कहना बिल्कुल संगत हो जाता है कि शब्द व्यापाररूप तो शब्द भावना है और पुरुष व्यापाररूप अर्थ भावना है। अब वहाँपर कर्ताका व्यापार लिङ्गसे जान लिया जाता है। प्रथम पुरुष मध्यम पुरुष और उत्तम पुरुषकी क्रियामें जो प्रत्यय लगाया जाता है वह लिङ् प्रत्यय कहलाता है। तो लिङ्के द्वारा जाना गया

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

कर्तृ व्यापार ही अर्थ भावना कहलाता है। शब्दभावनासे अर्थ भावना बनती है। इस प्रकार कर्ताका व्यापार भावना रूप है। तब क्रियावाचक जो शब्द है वहाँ अर्थभाव ही है। जो कुछ भी क्रिया बोली गई उस क्रियाका शुद्ध अर्थ तो भाव है। भावनामें भू धातुको णिजंत करके घञ् प्रत्यय किया गया है। भवनं भावः। होनेका नाम तो भवन है और भावनं भावना हुवानेका नाम है भावना। और, इस प्रकार भावनाकी व्युत्पत्ति होनेपर यह सिद्ध हो जाता है कि यह कर्तृ व्यापार भावना है। सो यह भावना रूप कर्तृव्यापार वेदवाक्यसे प्रेरित होता हुआ अपने व्यापारमें लगाता है, अर्थात् शब्द व्यापारसे पुरुषमें व्यापार होता है और उस प्रकार फिर प्रवृत्ति होती है, तो यों शब्द प्रवर्तक कहलाता है, अब वहाँ जो नियोग्य है वह तो अर्थ भावनाका विशेषण है अतएव अप्रधान है, इस कारण शब्द भावना वाक्यार्थ नहीं किन्तु अर्थभावना वाक्यार्थ है। शब्द भावनाका तो प्रयोजन अर्थभावना है। प्रधानता अर्थभावनाकी है। और, भावनाका नियोगसे सहितपना होनेसे अर्थात् यह करे इस प्रकार नियोग विशिष्टता होनेसे नियोगमें लगे इस प्रकारके प्रतिपादन होनेपर वह पुरुष नियमसे प्रवृत्ति करता है, क्योंकि विशेषण और विशेष्यका परस्परका सम्बन्ध है यदि शब्दके द्वारा प्रेष्यमाण होकर भी पुरुष यदि प्रवृत्ति न करे तो फिर यह कर्ता अपने व्यापारको प्रतीतिमें लेता हुआ ही क्या प्रवर्तता है? अर्थात् शब्द सुनकर कर्ता अपने आपमें यह प्रतीति रख रहा है कि मैं इस शब्दके द्वारा इस कार्यमें नियुक्त हुआ हूँ और ऐसा विश्वास रखता हुआ प्रवृत्ति करता है। यदि अपने व्यापारकी प्रतीति उसे न हो तो कितना ही प्रेरित किया जाय, यह पुरुष अपने व्यापारमें ही नहीं लग सकता है, न प्रेरित हो सकता है।

फलज्ञान व फलापरिज्ञानके विकल्पोंमें धात्वर्थबपोधसे ज्ञान, प्राप्ति व प्रयत्नकी असफलताका आक्षेप और उसका समाधान—अब यहाँ क्षणिकवादी पुन: शंका करते हैं कि वहाँ जो वह अ स्वयं यह मान रहा है कि यह मेरा व्यापार है, मैं इसमें नियुक्त हुआ हूँ, सो क्या फलके ज्ञानके बिना ही वह मान रहा है या फलका परिचय अनुभव करता हुआ वह मान रहा है? यदि फलके परिज्ञानके बिना वह मान रहा है तब फिर पदार्थका जानना पदार्थकी प्राप्ति होना यह कैसे सफल हो सकता है? और यदि फलका अनुभव करता हुआ मान रहा है कि यह मेरा व्यापार है, इसमें मैं नियुक्त हुआ हूँ तो भी पदार्थका ज्ञान और प्राप्ति प्रयत्न सफल नहीं हो सकते, कारण यह है कि जब फलका अनुभव हो ही रहा तो वहाँ नियोगका अहंकार बन ही नहीं सकता। इसपर भट्ट उत्तर देते हैं कि यह भी कहना बिना विचारे ही हुआ है। जैसे कोई वाक्य बोला—अग्निस्टोमसे स्वर्गाभिलाषी पुरुष यज्ञ करे, ऐसा कोई वेदवाक्य बोला गया तो उस वाक्यकी सामर्थ्यसे ही पुरुषके द्वारा वाक्यके उच्चारणके समयमें मेरा यह व्यापार है, मुझे यह करना है, मुझे इस कार्यमें नियुक्त किया गया है, यह प्रतीति किया जाना शक्य ही है।

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

फलके अदर्शनमें कर्तव्यनिश्चयकी असंभवताके आक्षेप एवं समाधान— सौगत पुनः शंका करते हैं कि फलको न देखता हुआ कोई पुरुष मेरा यह कर्तव्य है इस प्रकारका विश्वास कैसे कर सकता है ? भट्ट उत्तरमें कहते हैं कि फिर फलको न देखता हुआ कोई पुरुष प्रत्यक्षसे कैसे विश्वास कर सकता है ? सौगत कहते हैं कि जैसे जल जाना प्रत्यक्षसे तो वहाँ यह स्नान किया जानेके योग्य है, पीनेके योग्य है, इस प्रकार फलकी योग्यताकी प्रतीति भी प्रत्यक्षसे हो जाती है। तो भट्ट कहता है कि इस तरह वाक्यके बोलनेसे ही फलकी योग्यताकी प्रतीति बन जाती है, यज्ञ करो ऐसे सुनकर स्वर्ग फलकी भी प्रतीति हो जाती है और फल योग्यताकी प्रतीति होनेसे ही कर्तव्यका विश्वास हो जाता है। सौगत कहता है कि यज्ञ करनेका फल तो स्वर्गादिक है और वह है अतीन्द्रिय, इन्द्रियगम्य नहीं है, स्वर्ग, फिर स्वर्ग कर्ताके द्वारा अपने व्यापारकी योग्यता कैसे प्रतीत हो जायगी? क्योंकि स्वर्गादिक फल तो इन्द्रियगम्य हैं नहीं, उसको तो जान नहीं सकते। और फलको जाने बिना अपने व्यापारमें कैसे प्रतीति करे कि हाँ मुझे यह करना चाहिए, और इस शब्दसे मैं इस कार्यमें नियुक्त हुआ हूँ। तो भट्ट पूछते हैं कि फिर प्रत्यक्षके विषयकी भी योग्यता कैसे विश्वासमें ला ली जाती है? सौगत कहते हैं कि जानने वालेके अभ्यासकी समर्थ्यसे प्रत्यक्षके विषयमें जैसे कि प्रत्यक्षसे जलको देखा तो जलके बारेमें फल योग्यताका निश्चय हो जाता है कि इस जलके ज्ञानका फल मेरा यह होगा कि मैं नहा लूँगा अथवा पी लूँगा। तो यह सब अभ्यास सामर्थ्यसे प्रत्यक्षके विषयभूत जलमें फल योग्यताका निश्चय बन जाता है। तो भट्ट कहते हैं कि फिर शान्ति पुष्टिके आचरणके फलके अभ्याससे ही यज्ञकर्ताको अपने व्यापारमें फल योग्यताका निश्चय हो जायगा, क्योंकि तुम्हारे कथनमें और हमारे इस कथनमें समानता आ रही है, कोई विशेषताकी बात नहीं है।

शंकाकार द्वारा यज्यादर्थके अतिरिक्त अन्य कुछ भावनाकी वाक्यर्थताके निराकरणका कथन— यहाँ प्रज्ञाकर शंका करता है कि यजते पचति आदिक क्रिया प्रयोगमें भावना प्रतीति नहीं होती। यज्य आदिक अर्थके सिवाय अन्य किसी कल्पित भावनाकी वाक्यार्थता ही कहाँसे होगी ? देखिये ! जब यह प्रयोग किया कि यह पाकको करता है और यागको करता है और तो बतलावो पाकमें और यज्ञ करनेमें भेद है कि नहीं ? यदि भेद है तो भेद माननेसे अनवस्था दोष होगा जिससे असमंजसता हो जायगी। कैसे ? सो देखो ! यागको करता है, अपने व्यापारको बनाता है। उसकी निष्पत्ति रचता है। ये जो शब्द हैं सो प्रकृति प्रत्ययके भेदसे भेद कल्पना पूर्वक हैं अतः इन व्यपदेशोंसे पदार्थ तत्त्वकी व्यवस्था नहीं बनती, अर्थात् भावनाकी व्यवस्था नहीं बनती, क्योंकि यह यज्ञको करता है इसमें भावना नामक पदार्थकी व्यवस्था बनायी तो अपने व्यापारको रचता है, ऐसा कहनेमें अन्य भावनाकी व्यवस्था बनेगी तात्पर्य यह है कि यदि कोई कहे कि यजते और कोई कहे—याग करोति तो इस भेद-व्यवहारके होनेपर भी भावना नामक अभिधेय तत्त्वकी भेदमें कैसे अनवस्था न होगी?

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

तो बात यह है कि यहाँ तो क्रियाभेद भी यदि कर गया तो इन व्यपदेशोंसे भावना नामक पदार्थतत्त्वकी व्यवस्था नही बनती। देखो! कहीं-कहीं भेदके बिना भी भेद-व्यवहार बन जाता है। जैसे कहा कि केतुका शरीर है तो केतु और शरीर भिन्न तो नहीं हैं लेकिन भेदव्यवहार बन गया। और भी समझिये! जैसे द्विजके व्यापारको याग कहते हैं तो यहाँ उस द्विजके व्यापारसे याने यागसे भिन्न कोई करोति याने क्रिया नही है और जब पुरुषके विशेषणसे अतिरिक्त कोई क्रिया न रही तो फिर-धात्वर्थसे भावनारूप वाक्यार्थ बनाना यह नही बनता। जैसे देवदत्तकी क्रिया देवदत्त के समानाधिकरणमें है सो वह देवदत्तके भवनरूपसे ही जानी जायगी। यों ही देवदत्तका व्यापार (याग) देवदत्तके समानाधिकरणमें है तो देवदत्तके भावनरूपसे जाना जायगा। फिर धात्वर्थ भावना वाक्यार्थ आदिक कुछ भी भिन्न चीज नहीं।

यजते पचति आदिमें भावनाकी ध्वनि और अनवस्थाके परिहारका भट्ट द्वारा समाधान—क्षणिकवादियोंकी उक्त शंकापर भट्ट समाधान करते हैं कि परीक्षा करनेपर यह शंका असमीचीन हो जाती है। यजते पचति इन क्रियावोंमें भावनाकी प्रतीति होती है। यज्य अर्थसे अधिक वाक्यार्थता है उनमें यह बराबर युक्तिसंगत है। पाकं करोति, यागं करोति जैसे इनमें भेद अवभासित है, रसोई करना और यज्ञ करना इनमें जैसे भेद प्रसिद्ध है तो व ां अनवस्था दोष नही आता। और, देखिये! यजते पाकं करोति इस वाक्यमें जैसे कुछ अर्थकी प्रतिपत्ति हो जाती है उसी तरह अपने व्यापारको करता है स्वव्यापार निष्पादयति, ऐसा कहनेमें भी बराबर प्रतिपत्ति हो जाती है। स्वव्यापार शब्दके द्वारा यागका ही अभिधान (कहना) होता है। और निष्पादयति इस शब्दके द्वारा धात्वर्थकी करनेकी बात प्रतीत होती है सो यागं करोति स्वव्यापारं निष्पादयति इसमें कोई अर्थभेद नही है। चाहे यह कह लो कि यज्ञको करता है इसमें लक्ष्य एक ही रहा। यज्ञकी निष्पत्तिको रचता है, इसमें भी यज्ञकी जो निष्पत्ति है रचना और करना बात एक ही तो है। तो जब कोई इस तरह बोलता है कि यज्ञकी निष्पत्तिको रचता है तो इसमें यही तो प्रतीत हुआ कि यज्ञको करता है। तो जब इसमें एकार्थपना है तो ये व्यपदेश अर्थके बिना यथा कथञ्चित् भेद कल्पना पूर्वक हुए हों यह बात नही सिद्ध होती, क्योंकि प्रतीयमान जो करनेका अर्थ है वह इन वाक्योंका विषय है। जैसे कोई ऐसा कहे कि यज्ञ करता है, कोई कहे कि यज्ञ रचता है—यागं करोति, यागं विदधाति, तो जैसे इन व्यपदेशों में अर्थभेद नही है, विषय एक ही है, तो इसी तरह यदि कोई यों कहता है—यजते अथवा कहता है—याग निष्पत्ति निर्वर्तयति, तो इसमें भेद न रहा। इससे यह बात युक्त है कि कोई यागं करोति, यह वचन बोले अथवा याग निवर्तयति यह कहे, तो इन व्यपदेशोंसे पदार्थतत्त्वकी व्यवस्था होना, भावना अर्थकी सिद्धि होना बिल्कुल युक्त है. इसमें अनवस्था दोष नही आता, क्योंकि ये सभी व्यपदेश, ये सभी वाक्य एक करोति क्रियारूप अर्थभावनाको ही बताते हैं। तो जहां अर्थभेद नहीं है वहां

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

अनवस्थाका कोई प्रसंग नहीं और जहां अर्थभेद है वहां भी अनवस्थाका क्या प्रसंग?

यजते यागं करोति आदि पर्यायशब्दोंके कथनमें अनवस्था दोषका आक्षेप प्रत्याक्षेप—अब यहाँ प्रज्ञाकर कहते हैं कि यजते यागं करोति, यागक्रियां करोति, इस तरह पर्यायवाचिताकी विधिसे बोलते तो इसके आगे भी इसीका समर्थक वाक्य बोलते जाइये सो यों ही तो अनवस्था होती है अर्थात् इसको भी और दुबारा कहनेके लिए अन्य शब्द बोले। जब एकबार बोल चुके और फिर बादमें ही उस ही बातको अन्य अन्य शब्दोंमें बोलनेकी प्रक्रिया रखते हों तो फिर अन्य-अन्य बोलनेसे कहीं विराम हो ही न सकेगा। इसपर भट्ट उत्तर देते हैं कि यदि किसी वाक्यको स्पष्ट करनेके लिए दूसरा वाक्य बोला और इस तरह बोलनेसे बोलते रहनेको अनवस्था बताते हो तो जब यह कहा कि स्वरूपं संवेदयते, स्वरूपको जानता है और इसके बाद कह दिया स्वरूप सम्वेदनं सम्वेदयते, स्वरूप सम्वेदनको वेदता है तो यहां भी तो अनवस्था दोष हो जायगा। जब एक बातको दूसरे शब्दोंमें कहा तो अब तीसरे ढङ्गमें कहो, तीसरे ढङ्गमें कहनेपर चौथे ढङ्गमें कहो। तो जैसे यज्ञ करनेके व्यपदेशमें यों दुबारा स्पष्ट करनेमें अनवस्था दोष बताते हो तो यों तुम्हारे यहाँ भी अनवस्था दोष होगा। ज्ञानाद्वैतवादी ज्ञानसम्वेदन मानता है। तत्त्व केवल ज्ञानमात्र है। तो उस तत्त्वको दिखानेके लिए वाक्य बोला—स्वरूपं सम्वेदयते इस हीको और स्पष्ट करके कहा जाय—स्वरूप सम्वेदनं सम्वेदते। तो ऐसी स्पष्टीकरणमें यहां भी अनवस्था दोष हो जायगा।

प्रतिपाद्यके अवगमके प्रयोजनके अनुसार शब्दव्यवहारका प्रयोग—अब ज्ञानाद्वैतवादी योगाचार पुनः कहते हैं कि बात यहाँ यह है कि जब कहा स्वरूपं वेदयते तो इतने मात्रसे ही स्वरूप सम्वेदनका ज्ञान हो गया। अब स्वरूपसम्वेदनं सम्वेदयते इस प्रकारका वाक्य बोलना निरर्थक है इसलिए अयुक्त है अर्थात् जो बात पहिले कहा है उस हीको तो दूसरे वाक्यमें कहा गया है। कोई व्यवच्छेद्य बात तो न रही अर्थात् जो एक बार बोला, उसमें कोई दोष हो, उसमें कोई दोष परिहार करने की आवश्यकता हो तब तो अन्य-अन्य बोलनेकी सार्थकता है। जब स्वरूप सम्वेदन रूप अर्थका पहिले वाक्यसे ही बोध हो गया, अब उसके लिए दूसरा कुछ विस्तृत शब्द बोलना यह निरर्थक होनेसे अयुक्त है। फिर उसमें अनवस्था दोष ही कैसे लगेगा? कुछ लगार माने और कुछ लगारका नियम बनाये तो भले ही कोई दोष दिया जा सकता। इसपर भट्ट कहते हैं—तब फिर एक वाक्य बोला गया यागं करोति अर्थात् यज्ञको करता है। अब इतने ही शब्दमात्रसे ज्ञान हो गया कि यज्ञ सहित क्रियाकी बात इसमें नियोजित की है। जब यज्ञयुक्त क्रियाकी प्रतीति हो गई फिर यागं करोति आदिक वचनै कहना भी अनर्थकमें शामिल कर लिया जाय क्योंकि वहां भी व्यवच्छेद्य कुछ न रहा याने ऐसा प्रसंग नहीं है कि कोई दोष था जिसको हटानेके लिए नया

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

वाक्य बोलना पड़ा वहां कोई दोष न था। इसपर यदि कहो कि यजते इतने ही मात्र से यागनिष्ठ क्रियाकी प्रतीति हो गई फिर यागं करोति, यह वचन भी अनर्थक होगया याने प्रथम प्रयोग किया यजते, द्वितीय प्रयोग किया यागंनिष्पत्ति निवर्तयति, अब यहां तीसरी बारका प्रयोग अनर्थक बताया जा रहा है, क्योंकि द्वितीय प्रयोगसे ही यागनिष्ठ क्रियाकी प्रतीति हो गई तो सुनिये ! यों प्रथम प्रयोगसे ही यागनिष्ठ क्रियाकी प्रतीति होगयी तब द्वितीय वाक्य बोलना भी अनर्थक मान लीजिए ! इसपर भट्ट कहते हैं कि तुम्हारी बात सत्य है। यदि प्रथम वचनके प्रयोगसे ही अर्थात् पहिली बार जो नियोजनके लिए वाक्य बोला गया है उस वाक्यसे ही यदि श्रोता सब कुछ जान जाता है तो द्वितीय वाक्य बोलना भी अनर्थक है और यह युक्त है कि अन्य शब्द न बोलना चाहिए, लेकिन जो शिष्य उस प्रथम वचनसे नही समझ सकता उसके लिए द्वितीय वचन अर्थात् दूसरी बार उसका खुलासा करना अनर्थक नही है, क्योंकि दूसरी बार जो वाक्य बोला गया वह उसके विशेषणरूपसे बन गया अर्थात् प्रथम बार बोले गये वाक्यमें जो कुछ समझना चाहता था उस हीको समझानेके लिए उससे कुछ सरलरूपसे वाक्य बोला जाता है। तो यों विशेषण विशेष्यके भेदकथनकी पद्धतिसे उस शिष्यको जो प्रथम वाक्यसे न समझ सका उस ही अर्थको समझानेके लिए द्वितीय वाक्य बोलना अनर्थक नही है।

कथंचित् भेद माने बिना भेदव्यवहारकी अशक्यता होनेसे करोत्यर्थ व यज्यार्थमें भेदकी सिद्धि—और भी देखिये ! भेद व्यवहार तो कथंचित् भेद माने बिना प्रवृत्त नही होता। यदि भेद व्यवहारके प्रसंगको सर्वथा भेदसे मान लिया जाय तो वहाँ भेद व्यवहार भी नही बन सकता। जैसे कहा ? केतुका शरीर, राहुका सिर, हेतुको केवल धड़ मात्र माना गया है रूढ़िमें और राहुको केवल सिर मात्र गया है। अब उस विषयमें जो लौकिकजन कहते हैं कि हेतुका शरीर तो एक भेद बोल दिया ना केतु और उसका शरीर लेकिन शरीरके बिना केतु क्या है ? शरीर क्या है वही केतु है अथवा शरीर और केतुको बिल्कुल भिन्न मान लेवे तो भी केतुका शरीर, यह व्यवहार नही बन सकता। तो यह भेद व्यवहार भी कथंचित् भेद माने बिना प्रवृत्त नही होता है। कथंचित् भेदके बिना भी यदि भेद व्यवहार प्रवृत्त होने लगे तो भेद व्यवहारों में गौणताका प्रसंग हो जायगा। वे औपचरिक कहलाने लगेंगे। वे औपचारिक हीं हों यह तो युक्त है नही, क्योंकि पदार्थोंमें जो कि भेदरूपसे हैं वे बराबर तात्त्विक भेद वाले हैं. ऐसा लोग समझते हैं। अथवा केतुको शरीर ऐसा कहनेके प्रसंगमें केवल इतना ही कहा जाता है, शरीर. इस राहु और केतुके प्रसंगमें केवल इतना हीं कहा जाय शरीर तो वहाँ यह सन्देह होता ना कि किसका शरीर ? केतुका या राहुका। अथवा जब जब कहा केतुका, राहुका, तो ऐसा कहनेपर सन्देह हुआ कि केतुका और राहुका, क्या, तब यह वाक्य बोलना सार्थक हो जायगा कि केतुका तो शरीर और राहुका सिर, तो इन दो प्रसंगोंमें जो सन्देह बना उस सन्देहको दूर करनेके लिए शरीर और सिर, इस

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

प्रकारका कथन करना अन्य कार्यपनेका व्यवच्छेद सिद्ध हो जाता है। अन्य योगका व्यवच्छेद होनेपर सन्देह भी नष्ट हो जाता है। जैसे कहा—राहुका, केतुका, अब क्या उनका शरीर या सिर ? तो यों अन्य चीजका भी सम्बन्ध जोड़नेका जहां प्रसङ्ग आता है वहां यदि यथार्थ बात कह दी जाती है तो इसमें हुआ क्या ? अन्यके योगका व्यवच्छेद हुआ। केतुका शरीर न कि सिर। साधारण कथनमें सिरका योग हो सकता था समझमें, उसका विनाश किया तो सन्देह भी नष्ट हो गया। यदि कोई इतना ही कहता कि शरीर अथवा सिर ? तो इतना कहनेपर यह तो संशय हो जाता है कि किसका है शरीर और किसका है सिर ? उस संशयको दूर करनेके लिए यह शब्द कहना सही है केतुका और राहुका। याने केतुका शरीर और राहुका सिर। अब देखिये ! उन दोनों कथनोंमें कथचित भेद आया कि नहीं ? आया। अवस्था और अवस्थावानमें कथंचित् भेद बन गया। जैसे कोई यही कहे कि इस पुरुषका शरीर तो शरीर और वह पुरुष कहीं जुदे-जुदे नही बैठे हैं। लेकिन शरीर और शरीरवान इस प्रकारके व्यपदेशसे उनमें कथंचित् भेद बन गया। तो अवस्थाकी अपेक्षा जब कथंचित भेद बन गया तो भेदव्यवहार बोलाना युक्तिसंगत बन गया। शरीर केतुकी अवस्था है और वह अवस्था अनेक अवयवोंके, शरीरमें परमाणुवोंके प्रचय रूप है, अर्थात् शरीरमें अनेक स्कंध उपचित हो गए हैं यह तो है एक शरीररूप अवस्था, जो अवस्था अन्य अवस्थासे पृथक् जचाती है। उस शरीर अन्यसे अवस्था क्या हुई? केवल सिर मात्र। तो ऐसा कहना कि केतुका तो शरीर और राहुका सिर, इस कथनसे संशय दूर किया गया है कि केतुके केवल शरीर शरीर है, पर सिर नही है। अवस्थान्तरका निषेध करनेके लिए अवस्थाका प्रयोग केतुके लिए जो किया गया है वह सब प्रयोजन संशयको मिटानेके लिए है, और ऐसा भेदव्यवहार कथंचित् भिन्न माने बिना नही हो सका है। देखो यह केतु तो है अवस्थावान और शरीर है अवस्था और राहु है अवस्थावान और सिर है अवस्था तो हेतु सिर रहित अवस्थान्तर है यह ज्ञान हुआ और, राहु केवल सिरकी अवस्थामें है ज्ञान बना। तो इस कारण कथंचित् भेदव्यवहार बिना भेदव्यवहार भी नही बनता। ऐसे ही यजते कहकर यागं करोति कहा गया है सो भिन्न रूपसे कहनेका जो अर्थ है वह किसी किसी दृष्टिमें किसी अपेक्षाको लेकर है।

अवस्था और अवस्थातामें वास्तविकता—यहां बौद्ध कहते हैं कि अवस्थाता मानना तो काल्पनिक है, याने अवस्थाओंमें, पर्यायोंमें रहने वाला कोई एक है इस प्रकारका अवस्थाता मानना केवल काल्पनिक बात है, क्योंकि अवस्थाको छोड़कर अन्य और कुछ उपलब्ध ही नही होता। जैसे रागद्वेष कषाय ज्ञान कुछ भी अन्य लो, बस इतना ही मात्र पदार्थ है। उन अवस्थाओंसे निराला कोई एक शाश्वत आत्मा जीव हो, ऐसा कोई भी पदार्थ प्रतीत होता हो सो बात नही, इस कारण अवस्थाता काल्पनिक है। इसके उत्तरमें कहा जा रहा है कि यह शंका करना ठीक नही है। अर्थात् जो अवस्था है इतना ही मात्र तत्त्व है, पदार्थ है, और अवस्थासे भिन्न कोई अवस्थाता नही है,

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

अवस्थाता केवल काल्पनिक है ऐसा कहना समीचीन नहीं है, अवस्थाताको काल्पनिक माननेपर अवस्था और अवस्थावान दोनोंका ही असत्त्व हो जायगा । यद्यपि अवस्थासे भिन्न कोई अवस्थाता ही नहीं याने सर्वथा भिन्न नहीं, किन्तु समझमें कुछ लक्षणोंसे जो भेद ज्ञात होता है उस तरहसे अगर अवस्था नहीं मानते तो न अवस्थाता रहेगा न अवस्थावान रहेगा, क्योंकि अवस्थाको काल्पनिक माननेपर अवस्थामें भी सत्त्व नहीं बन सकता और अवस्थामें भी पारमार्थिक नहीं हो सकता है । जैसे अवस्थता काल्पनिक है, असत् है उसी प्रकार अवस्थाता भी काल्पनिक और असत् बन जायगी । तब जैसे कोई कहे कि आकाशके फूलकी सुगंध । न सुगंध है, न आकाशका फूल है, इसी तरह अब न अवस्था रहेगी न अवस्थान रहेगा, फिर तो शून्य कहलायेगा । तो इसी तरह यहाँ यह निश्चय लेना चाहिए कि व्यवहार कथंचित् भेदके बिना घटित नहीं हो सकता । केतुका शरीर, राहुका सिर जो जो भी व्यवहार किये जाते हैं वे कथंचित् भेद के बिना नहीं बन सकते । अवस्था और अवस्थावानका भेद करना ही पड़ेगा । तो इस भावना अर्थ वाले वाक्यार्थके सम्बन्धमें पुरुषरूप अर्थ और यज्ञ करनेरूप अर्थ, इनमें यदि व्यपदेश किया जा रहा है याने एक तो यों कहना कि अपने व्यापारको रचता है और एक यों कहना कि यज्ञ करता है अर्थ दोनोंमें एक है । लेकिन ऐसा जो भेदव्यवहार बना वह उस ही एक बातमें कथंचित भेद डालनेसे बनाया गया है । तब यह मान लेना चाहिए कि यज्ञ करने रूप पदार्थ आत्मा स्वरूपके आश्रयरूप ही है । जब ऐसा वाक्य बोला जाय कि यज्ञको करता है तो उसमें वस्तुस्वभावका आश्रय ही बताया गया । भावनारूप जो वस्तु है वह स्वभावका आश्रयरूप है, अर्थशून्य नहीं है, ऐसी ही वास्तविक प्रतीति होती है । जैसे कहा गया कि सम्विदं अनुभवति, तो इसमें भी जैसे क्षणिकवादी मानते हैं कि इसमें ज्ञानाद्वैत तत्त्वको ही कहा गया, क्योंकि ज्ञानका अनुभवन उस ज्ञानस्वभावके आश्रय ही है । तो इसी प्रकारसे वह जो ब्राह्मण का व्यापार हुआ है वही यज्ञ करना कहलाता है । चाहे यज्ञ करना कहो और चाहे आत्मव्यापार कहो और चाहे केवल एक ब्रह्मस्वरूप कहो, वस्तुस्वरूप बन गया ।

करोत्यर्थसामान्यसे यज्याद्यर्थविशेषकी अर्थान्तरभूतता—इस सम्बन्धमें और भी देखिये ! विप्रका व्यापार यज्ञ है, इस तरह कहा गया तो उससे भिन्न निर्बाध कोई करोति क्रिया मान ही ली हो । यदि क्रिया भी द्विजरूप है, द्रव्यका अभेद होनेसे कोई भिन्न न माना जाय फिर देवदत्तपनेसे गतिका भी समानाधिकरण होनेसे अर्थात् अभेद होनेसे वहां भी कुछ भिन्नता न मानी जायगी । देखिये ! वह ब्राह्मण व्यापार करे, न करे, ऐसा दोनों अवस्थाओंमें रह सकने वाला वह यह ही है ऐसा एकत्वका बोध होता है ना, तो एकत्व प्रत्यभिज्ञानके कारण परमार्थसे वह कोई एक देवदत्त है ऐसा निश्चित् हो जाता है और यहाँ यज्ञमें विप्रका व्यापाररूप पहिले न था और अब हुआ और फिर न रहा, मिट गया तो ऐसे अनित्यपनेको स्वीकारता हुआ भेदज्ञानका विषयभूत व्यापार द्विजसे अन्य है अर्थात् वह ब्राह्मण तो है नित्य, मायने चिरकाल

http://sahjanandvarnishastra.org/

तक रहने वाला और यज्ञका व्यापार है अनित्य, पहिले न था, अब है, यों व्यापारमें और द्विजमें कथंचित् भेद बन ही गया, क्योंकि द्विजमें नित्यता है, व्यापारमें अनित्यता है यों कथंचित् विरुद्ध धर्मका अध्यास है। व्यापार उत्पत्ति व नाश वाला है और द्विज वही का वही है। तो जैसे द्विजसे यज्ञ करनेरूप क्रिया भिन्न है उसी प्रकार यज्ञ और पचनके व्यापारमें रहने वाली क्रिया सामान्य जो कि कुछ करनेरूप करोति क्रिया के अर्थका सद्भाव होनेसे सब धातुओंमें अनुगत ज्ञानद्वारा वेद्य है वह करोति अर्थसामान्यसे विपरीत यजनात्मक यागसे भिन्न है तो वह बिलकुल भी निराकरणीय नहीं है। उक्त विवरणसे यह स्पष्ट हुआ कि करोति अर्थसे विपरीत जो यजन अर्थ है उससे करोति नामक क्रिया भिन्न ही है, अतएव अवस्थाभेद निराकरण किया जानेके योग्य नहीं है, क्योंकि यजते अथवा यागं करोति, इसमें देवदत्तके साथ दोनों ही क्रियावोंका समानाधिकरणरूपसे बोध होता है तथा वह अवस्था अवस्थावानके भेदसे पहिचाना हो जाता है। जो यज्ञ और श्रुति वाक्योंको मानते हैं, ऐसे मीमांसकोंके प्रति क्षणिकवादी बौद्ध कह रहे हैं कि धातुओंके अर्थ एक हुआ करते हैं। जो पच धातुसे जाना गया वही यज् धातुसे जाना गया। व्यवहारमें पच धातुका अर्थ है पकाना और यजका अर्थ है पूजना, लेकिन चूंकि धातु-धातु सब एक हैं इसलिए अर्थ भी एक है और जब एक हो तब समाकाधिकरण बन सकता है। समानाधिकरणका अर्थ यह है कि जैसे देवदत्तने काम किया, रसोई बनाया और देवदत्तने खाया तो बनानेका और खानेका आधार एक है देवदत्त। इसी तरह जब सभी धातुवोंका अर्थ एक हो जायगा जैसे—खाना है, पकाना है, पढ़ना है, पूजना है आदि धातु धातु तो एक समान हैं। जब धातुवोंमें एकता हो जायगी तब जाकर समानाधिकरण बन सकता और यज्ञका फल मिल सकता। इसने यज्ञ किया और यह फल पायगा, यह बात तब बन सकती जब सब क्रियाओंको एक मान लिया जाय! तो यों बौद्ध कह रहे हैं कि एक माना जाना ही चाहिए। तो यहाँ मीमांसक भट्ट कहते हैं कि क्रियामें यदि सब प्रकारसे एकपना हो जायगा तो समानाधिकरण नहीं बन सकता। जैसे कपड़ा और सफेद। कहा सफेद कपड़ा, तो सफेद कुछ और बात है, कपड़ा कुछ और बात है, तब उनका एक आधार बन जाता है। कपड़ा सफेद है, एक ही वस्तुमें कपड़ापन और सफेदीपन दोनों रह जाते हैं। अब मान रहे हो तुम सर्वथा एक तो सर्वथा जो एक है, जैसे कपड़ा और कपड़ेका स्वरूप, ये तो सर्वथा अभिन्न हैं, उनका समानाधिकरण क्या? किन्तु सफेद और कपड़ामें समानाधिकरण है, क्योंकि सफेद और कपड़ा, इनमें कथंचित् भेद है। सफेद और कुछ भी हुआ करता है, कपड़ा ही मात्र तो नहीं होता सफेद! तथा कपड़ा और और रंगके भी होते हैं। कपड़ा सफेद ही तो नहीं होते। तो सफेद और कपड़ा इन दोनोंमें भेद है तभी समानाधिकरण बनता और बौद्ध जन कहते हैं कि सर्वथा एक हो तो समानाधिकरण बनता है। तो कपड़ा और कपड़ेका स्वरूप ये तो सर्वथा एक है। स्वरूपको छोड़कर कपड़ा कुछ नहीं, कपड़ाको छोड़कर पटस्वरूप कुछ नहीं,

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

तो इसमें तो समानाधिकरण नहीं बनता। एकमें क्या समान अधिकरण ? दो चीजें हों और समान हों तब तो उनका एक अधिकरण बताया जाय। जब दोनों ही एक हैं तब समानाधिकरणकी क्या बात है ? और भी सुनो ! जैसे पूछा कि देवदत्त क्या करता है ? तो उत्तर होता कि पूजता है या पकाता है, ऐसे प्रश्नोत्तर होते। तब यहाँ देखो कि प्रश्नमें जो बात कही कि क्या क्या करता है ? तो कर्तापन तो दोनोंमें समान है, पूजा करता तो वहाँ भी कुछ करता है, पकाना तो वहाँ भी कुछ करता है। तो प्रश्नमें जो पूछा गया वह दोनोंमें निश्चित् है, समान है, मगर यजन और पचनमें संदेह है। क्या पूजा करता है या रसोई करता है ? तो इससे ही सिद्ध हुआ कि सर्वथा एक होते तो बात नहीं बनती, पूजनका भाव और है और पकानेका भाव और है।

किसीका निश्चय होनेपर किसीका अनिश्चय होनेसे भी भेदकी असिद्धि—एक नियम यह भी है कि जिसके निश्चित् होनेपर जो निश्चित् नहीं होता वह उससे कथंचित् भिन्न है, यह नियम आप सब जगह लगा लें, जिसके निश्चित् होनेपर जैसे सबका निश्चय नहीं है तो भी दोनों कथंचित् न्यारे-न्यारे हैं। जैसे यजते, यजतेका अर्थ है पूजता है और करोतिका अर्थ है करता है। तो यज्य अर्थ, करोति अर्थसे भिन्न है, क्योंकि देवदत्त कुछ करता है यह तो निश्चित् है, पर क्या करता है? उसमें यह निश्चित् नहीं है। तो करोतिमें तो निश्चय है पर पकाता है या पूजता है, इसका निश्चय नहीं है। इससे समझना चाहिए कि जिसके निश्चय होनेपर जिसका निश्चय न हो वे दोनों भिन्न अर्थ वाले हैं। इससे जितने भी धातु हैं उन सबके अर्थ न्यारे-न्यारे हैं। जैसे कि अन्यके शरीरका निश्चय होनेपर भी बुद्धि अनिश्चयीमान है अर्थात् दूसरेका शरीर दीखा उसका तो इसमें निश्चय हो गया कि यह है देह, पर उसकी बुद्धिका निश्चय नहीं होता। तो देहके निश्चय होनेपर बुद्धिका निश्चय नहीं होता, इससे सिद्ध है कि देह न्यारा है और बुद्धि न्यारी है। तो इसी तरह करोति, इसका निश्चय होनेपर भी यज्य आदिक निश्चित् नहीं है। इससे करोति और यज्य आदिक का अर्थ भिन्न है। वहां बौद्ध यह कह रहे थे कि करोति याने करता है वह भी एक धातु है तो धातुके रिश्तेसे सबमें एकता है। मीमांसक कहते हैं कि नहीं, एकता नहीं है। कैसे जाना जाय कि सब धातुवोंमें एकत्व नहीं है। उसका एक विधान है कि जिसका निश्चय होनेपर जिस किसीका निश्चय नहीं है तो समझो कि वे न्यारे-न्यारे हैं जैसे हम बहुत पुरुषोंके देह देख लेते हैं, शरीर हैं। शरीरका तो निश्चय हो गया, पर शरीरका निश्चय होनेसे उसकी बुद्धिका ज्ञान तो नहीं होता। इससे मालूम होता है कि शरीरका अर्थ न्यारा है और बुद्धिका अर्थ न्यारा है। इसी प्रकार जब हम कहते हैं—करता है, तो करता है इसका तो निश्चय हो गया। देवदत्त बड़ा खटपटी है और वह कुछ किए बिना रहता ही नहीं है। कुछ न कुछ करता ही रहता है तो करता है, इसका तो निश्चय हुआ मगर पूजा करता है कि रसोई करता है ? इसका कुछ निश्चय न हुआ ! तो करता है, इतना मात्र कहनेपर या निश्चय होनेपर पूजनका निश्चय नहीं

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

होता। इससे जानना चाहिए कि करोतिका अर्थ न्यारा है और यजते पूजता है, पचति पकाता है, इसका अर्थ न्यारा है।

करोत्यर्थसामान्य और यज्याद्यर्थविशेषके कथंचित् भेदके सम्बन्धमें आशङ्का—अब बौद्ध कहते हैं कि यदि करोतिका अर्थ न्यारा है और पूजते आदिका अर्थ न्यारा है तो जब न्यारा ही है तो एकके कहनेपर दूसरेके संदेह होनेकी गुंजाइश ही नहीं। संदेह हुआ करता है कुछ समान चीजमें, कुछ अभेदरूप हो। जैसे सीप और चांदी ये सदृश हैं, कुछ अभेदरूप हैं, रूप रंग एक है। तो कुछ जब अभेद होता है तब संशयकी गुञ्जाइश वहां हो होती है। जो अत्यन्त भिन्न चीज है, जैसे लोहा पड़ा है, अब उसमें कौन संशय करेगा कि यह लोहा है कि चांदी है? काठ पड़ा है, उस काठ को देखकर कौन संशय कर सकता है कि यह काठ है कि हीरा है? जो अत्यन्त भिन्न चीजें हैं उनमें संशयकी गुञ्जाइश नहीं होती। तुमने माना कि करोतिका अर्थ भिन्न है और यजतेका अर्थ भिन्न है। तो वास्तवमें ये भिन्न हैं तो एकके कहनेपर दूसरेका संदेह होना यह घटित नहीं होता। दूसरी बात यह बौद्ध कह रहे हैं कि करोति इसका अर्थ यदि बिल्कुल भिन्न मानते हो और यजते, इसका अर्थ बिल्कुल भिन्न मानते हो और करोति ऐसी क्रियाके निश्चय होनेपर उससे भिन्न जो यजन पूजन मानते हो और करोति ऐसी क्रियाके निश्चय होनेपर उससे भिन्न जो यजन पूजन क्रिया है उसमें संदेह होना मानते हो तो इसके विपरीत यह भी तो कहा जा सकता है कि यजते अर्थ का निश्चय होनेपर करोति अर्थका निश्चय नहीं है। तीसरी बात यह है कि यज्यादि आदिक क्रियासे भिन्न बातमें करोति अर्थका निश्चय होनेपर प्रश्न फिर सही नहीं होता कि क्या करता है? ऐसा प्रश्न करना ही बेकार है, क्योंकि अनिश्चितमें ही प्रश्न किया जाता है। जब यह निश्चय है कि जो प्रश्नमें क्रिया बोली गई है उत्तरकी क्रिया नियमसे न्यारी है तो प्रश्न करनेकी गुञ्जाइश क्या है? क्या करता है? ऐसा प्रश्न किया। उत्तरमें जो कुछ भी बोला जायगा—पूजता है, पकाता है, वे हैं इस करोतिसे भिन्न-भिन्न, ऐसा निश्चय होनेपर तो फिर प्रश्न ही नहीं उठता। अनिश्चित् का ही प्रश्न बना करता, जिसका निश्चय पहिले है कि ये दोनों बातें बिल्कुल भिन्न भिन्न हैं तो उसमें प्रश्न नहीं बनता। इसमें करोति अर्थ और यज्य आदिक अर्थमें तादात्म्य मानना चाहिये अर्थात् समस्त क्रियावोंका अर्थ एकरूपसे ही है तब ही उसमें प्रश्नोत्तर देखे जा सकते हैं। यों यहाँ बौद्ध कहते हैं—एक मीमांसकोंके मंतव्यमें बाधा डालते हैं कि धातुओंका अर्थ एक ही होना चाहिये, क्योंकि बौद्ध निर्विकल्प सामान्यके सिद्धान्तवादी हैं। क्षणिकवादीकी दृष्टिमें जो कुछ नजर आता है और कल्पनाका जो ज्ञान होता है वह भी काल्पनिक है। तात्त्विक चीज तो निर्विकल्प सामान्य एक निर्विकल्प है। ऐसा विशेष, ऐसा द्रव्यका अंश, क्षेत्रका अंश, कालका अंश और भावका अंश, वह है बौद्धोंका लक्ष्य, तो ऐसा लक्ष्य उनका तब ही बन पायगा जब पदार्थोंमें भेदकी कल्पना न जगे। तो इसी कारण वे क्रियामें भी यह सिद्ध करना चाह रहे हैं

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

कि धातुवोंका अर्थ भी एक है, भिन्न-भिन्न नहीं है, और जब एक ही अर्थ है तब नियोग नहीं बन सकता। स्वर्गाभिलाषी पुरुष यज्ञ करे और अमुक इन्द्रकी पूजा करे, अमुक करे, ये उपदेश नहीं बन सकते।

करोत्यर्थसामान्य व यज्याद्यर्थविशेषमें कथंचित् भेदप्रतीतिका समाधान—उक्त आशंकापर भट्ट मीमांसक उत्तर देते हैं कि यह जो कथन है बौद्धोंका कि वस्तुका स्वरूप जो सामान्य है और विशेष है इन दोनोंमें सर्वथा एकता है दो बातें न झलकेंगी—सामान्य अर्थ और विशेष अर्थ। जैसे प्रश्नमें कहा कि देवदत्त क्या करता है ? तो इसका अर्थ हुआ सामान्य, और उत्तर दिया कि पूजा करता है तो यह अर्थ हुआ विशेष। करता है, करता तो सबमें माना जा सकता है। कोई पूजा कर रहा तो भी कर रहा, रसोई बना रहा तो भी कर रहा। यों करना तो एक सामान्य है और पूजना, देखना, खाना आदि ये सब विशेष हैं। तो बौद्ध इसमें कहते कि सामान्य और विशेष ये कुछ भेद नहीं हैं। सामान्य और विशेषको सर्वथा भेद मानना यह कथन ठीक नहीं उतरता। भट्ट कह रहे हैं कि इसमें करोति अर्थ तो सामान्य है और पूजना, पकाना आदिक अर्थ विशेषरूप हैं। करना तो एक सामान्य व्यापार है और पूजना, खाना आदि ये सब विशेष व्यापार हैं और सामान्य और विशेषमें कथंचित् अभेद माना गया है। तब जो संदिग्ध हो यज्य आदिक अर्थ वहाँ भी तो प्रश्न होगा। पूजना और पकाना आदि जितने भी अन्य काम हैं उन सब कामोंमें करोति अर्थ सामान्य है ही तब प्रश्नोत्तर बनता है। सामान्य और विशेषको कथंचित् सामान्यको अपेक्षासे अभेद माननेपर उन दोनोंमेंसे फिर एकका संदेह होगा। देवदत्त कुछ कर रहा है, अरे तो क्या कर रहा है ? पका रहा कि पूजा कर रहा ? यह संदेह तब बने जब सामान्यको कथंचित् अभेद मान लिया गया, अन्यथा प्रश्नोत्तरका क्रम बन ही नहीं सकता। अभेद में एकमें एकान्तमें ही प्रश्नोत्तर असम्भव है। यदि सर्वथा एक मान लिया जाय करने को और पूजनेको तब वहाँ सन्देह नहीं किया जा सकता। इसमें कथंचित् भेद मानने पर ही व्यवहार बनता है और व्यापार बनता है।

क्षणिकवादियों द्वारा सामान्यके सद्भावका निराकरण—अब बौद्ध कहते हैं—सामान्य विशेषके बिना कुछ प्रतीत नहीं होता। वस्तुमें दो धर्म होते हैं—सामान्य और विशेष। सामान्य तो कहलाया सर्वव्यापी। जो सब अवस्थावोंमें रहे और विशेष होता है व्यतिरेकी। यह है सो यह नहीं, ऐसा व्यतिरेक जहाँ पाया जाय उसे कहते विशेष। तो बौद्ध हैं विशेषवादी। वे ऐसा भेद बनाते हैं कि बनाते बनाते वह अभेद हो जाता है। जैसे कि क्षणिक सिद्धान्तमें आत्मा वह है जो एक समय ठहरता है और एक क्षण ज्ञानमात्र है, तो पर्यायके टुकड़े कर करके ऐसा टुकड़ा किया एक समय भेद न हो सके। अभेद होता है दो तरहसे—एक तो बहुत व्यापी दृष्टि करके और एक अत्यन्त संकुचित दृष्टि करके। जैसे निरंश मायने अंशरहित, टुकड़ा रहित। आकाश

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

निरंश है, इसका अर्थ क्या है कि आकाश ऐसा एक व्यापक है कि जिसके आगे कुछ है ही नही, अतएव आकाश निरंश है और परमाणु भी वह निरंश है। तो आकाश तो व्यापकारके विस्तृत बनकर निरंश है और परमाणु खण्डित होकर स्कंध खण्ड खण्ड होकर जो अन्तिम खण्ड है, जो अन्तिम भेद है वह निरंश है। तो बौद्ध वस्तुको निरंश मानते हैं भेद कर करके अन्तिम भेद। कहाँ तो वस्तुका स्वरूप सामान्य और विशेषके सम्बंधमें कथन चल रहा है। बौद्ध सिद्धान्त कहता है कि विशेष रहित कोई सामान्य नही है। विशेष ही तत्त्व है, एक क्षणमात्रका ही तत्त्व है। बौद्धोंकी दृष्टिमें दो प्रदेश वाली कोई चीज ही नही है। दो समय टिकने वाली कोई चीज ही नही है। दो शक्तियोंके समुदाय वाली कोई चीज ही नही है, दो द्रव्योंके मेल वाली कोई चीज ही नही है। विशेष चार तरहसे माना है—द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव। इन द्रव्य, क्षेत्र, काल व भाव आदिके इतने इतने अंश करें कि जिस अंतिम अंशका कोई भेद ही न हो सके। तो यह विशेषका आधिक्य हुआ। इतने अधिक विशेष पदमें उतरे कि जिसका फिर कोई मेल भी नही बनता। बौद्ध कहते हैं कि सामान्य विशेषके बिना कुछ नही है।

यह बात बौद्धोंको इस प्रसंगमें यों कहनी पड़ रही कि मीमांसक अपने वेद वाक्योंका अर्थ घटित करनेके लिए धातुओंमें यहकह रहे थे कि धातुओंमें एक तो होता है सामान्य अर्थ एक होता विशेष अर्थ। जैसे करता है यह तो सामान्य अर्थ है। करता है इतना सुननेसे किसीको खास निर्णय तो नही होता कि क्या करता है। देवदत्त करता है तो निर्णयकी चीज अगर होती तो लोग उसमें प्रश्न ही क्यों उठाते ? प्रश्न यह उठाया जाता कि देवदत्त क्या करता है, तो इससे विदित हुआ कि वह करता है सामान्य चीज हुई और निर्णयमें जो कहा जायगा वह विशेष चीज हुई। संदेह सदा सामान्यके बाद हुआ करता है, विशेषबाटके निश्चयमें सन्देह नही होता। जैसे कोई कुछ मुट्ठीमें चीज लिए है तो क्या है मुट्ठीमें ? अजी इसमें कुछ सफेद चीज है, ऐसा सुनकर सुनने वाला संदेह करता है कि चाँदीका टुकड़ा है कि कांच है, कि मणि है ?

क्यों सन्देह होता कि सुनने वालेको अभी सामान्यका तो परिचय हुआ विशेषका नही तो इसी तरह करोति याने करता है ऐसा सुनकर लोग सन्देह तो करते ही हैं। क्या करते हैं ? इससे विदित है कि करोतिका अर्थ सामान्य है और पूजता है, पकाता है, यह अर्थ विशेष है। तो इन दोनोंमें भेद है या अभेद है यह चर्चा चल रही है। मीमांसकोंको मानना पड़ा कि सामान्य और विशेषमें कथंचित अभेद है नही तो उनका वाक्यार्थ ही नहीं बनता। उसपर बौद्ध कह रहे हैं कि सामान्य और विशेषमें अभेद हो ही नही सकता। चीज जब कुछ इसमें हो तो अभेद बनावे। सामान्य तो कुछ दुनियामें है ही नही। विशेषके बिना सामान्य तो कुछ प्रतीत नही होता। सामान्यके द्वारा स्वीकार किये गये जाने गए की अप्रतीतता नही कही जा सकती। केवल सामान्यकी प्रतीति माननेपर विशेषके अंशमें सन्देह होता है इसलिये केवल सामान्य कुछ चीज नही है। विशेषके बिना सामान्य कुछ होता ही नही।

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

भट्ट मीमांसक द्वारा सामान्यरहित विशेषका निराकरण और सामान्यके सद्भावका साधन—अब उक्त आशकाके उत्तरमें भट्ट कहते हैं कि यह कहना अयुक्त है, क्योंकि केवल विशेष अप्रतीत है याने खाली विशेष कुछ होता ही नहीं है। जैसे घटकी प्रतीति करनेपर हिमालय आदिककी प्रतीति तो नहीं होती तो इसी तरह विशेषक जाननेपर सामान्यकी प्रतीति या सामान्यके जाननेपर विशेषकी प्रतीति नहीं होती। सामान्यका विशेष धर्मलक्षण अपना जुदा रहता है। यदि यह कहें कि सामान्यके द्वारा विशेष ही अक्षिप्त होता है अर्थात् समझ लिया जाता है, स्वीकार किया जाता है तो सुनिये! ऐसा होनेपर वह सामान्य भी तो प्रतीत हुआ, ऐसा बन गया फिर संशय कैसे? क्योंकि प्रतीतपनेसे भिन्न और कोई स्वीकार शब्दका अर्थ नहीं है। स्वीकार करना अर्थात् प्रतीति होना। और, वह प्रतीत हुआ है तो सामान्यसे प्रतीत हुआ है विशेषसे नहीं, क्योंकि सामान्यरूपसे ही उस विशेषको स्वीकार किया गया है।

क्षणिकवादियों द्वारा सामान्यकी असिद्धिके लिये समाधानप्रसंगमें पुनः आशङ्का—अब यहांपर क्षणिकवादी बौद्ध कहते हैं कि यह कैसे हो जायगा कि सामान्य ही तो ज्ञापक है और सामान्य ही स्वीकार किया गया है। याने सामान्यके द्वारा सामान्य जाना गया ऐसा मीमांसकोंका कथन तो चल रहा है वह कैसे सिद्ध हो सकता है? सामान्य ही तो ज्ञापक हो और सामान्य ही ज्ञाप्य हो, सामान्यसे भिन्न अन्य और वह क्या सामान्य है जो समझनेके योग्य होता है? और यदि ऐसे दो सामान्य बन गए एक सामान्य तो समझाने वाला और एक सामान्य समझमें आने वाला याने एक ज्ञापक व एक ज्ञाप्य ये दो सामान्य हो गए। तो फिर जो ज्ञापक सामान्य है वह भी ज्ञाप्य होना चाहिए, वह होगा अन्य सामान्यसे तो इस तरह सामान्यको माना जानेकी अनवस्था हो जायगी। इससे सामान्यका सामान्य ही स्वीकार किया गया यह बात नहीं बनती। सामान्य कोई अलग चीज है, विशेष अलग तत्त्व है, यह सब कुछ एक विशेषवादकी ही बात है। विशेषको छोड़कर सामान्य और कोई चीज नहीं है। यहाँ संक्षेपमें यह प्रसंग जान लेना चाहिये कि वेदवादी चाहे वह भावना अर्थ करने वाला हो या विधि अर्थ करने वाला हो या नियोग अर्थ करता हो वे सब सामान्यको विशेषतया प्रश्रय देते हैं। वे सब सामान्य तत्त्वकी मान्यतामें विशेषतया रहते हैं। और, बौद्ध क्षणिकवादी विशेषकी मान्यतामें रहता है तब सामान्य मानने वाला सामान्यके द्वारा सामान्यकी मान्यता बनायेगा। एक ऐसी प्राकृतिक बात है कि जब यहाँ भट्टोंने यह कहा कि सामान्यके द्वारा सामान्य स्वीकार किया गया तो क्षणिकवादी यह दोष देते हैं कि एक तो सामान्य हुआ वह जिसके माध्यमसे किसीको स्वीकार किया गया और एक सामान्य हुआ वह जो कि स्वीकार किया गया तो ज्ञापक सामान्य और ज्ञाप्य सामान्य। जब यों अन्य सामान्य मानना पड़ा तो ज्ञापक भी ज्ञाप्य होना चाहिए। जो कुछ भी नहीं जाना गया उसका सत्त्व क्या? तो उसका ज्ञापक अन्य सामान्य होगा। इस तरह सामान्यके माने जानेकी अनवस्था हो जायगी। कहीं

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

विश्राम ही नही मिल सकता। अत: सामान्य कुछ अलग चीज नही, विशेषरहित सामान्य कुछ भी वस्तु नही है। विशेषमें ही कल्पनासे हम सामान्यका उपचार करते हैं। जैसे ज्ञान ज्ञान ज्ञान यह बहुत समय तक चले तो उनमें एक आत्माकी कल्पना की तो सामान्य कुछ अलग नही है।

संशयज्ञानके अनवसरकी शंकाका समाधान—क्षणिकवादियोंके द्वारा की गई उक्त शंकाका अब भट्ट मीमांसक समाधान करते हैं। जो कुछ क्षणिकवादियोंने करोति और यज्यादिक क्रियाके सम्बन्धमें सामान्यतया अर्थके अभेदकी बात सिद्ध करना चाहा है और विशेष धात्वर्थके निराकरणके लिए संशय होनेके अवसरका अभाव बताया है, वह सब युक्तिसंगत नहीं है क्योंकि सामान्यके प्रत्यक्षसे और विशेष का प्रत्यक्ष न होनेसे एवं विशेषकी स्मृति होनेसे संशय होना युक्त ही है। संशयमें तीन कारण बनते हैं—सामान्यका तो प्रत्यक्ष हो और विशेषका प्रत्यक्ष न हो, किन्तु विशेष की स्मृति हो रही हो तो संशय बनता है। जैसे किसी पुरुषको संदेह हुआ कि यह सीप है या चांदी है, तो उस प्रसंगमें हुआ क्या कि सीप और चाँदीमें सामान्यरूपसे पाया जाने वाला जो धर्म है उसका तो प्रत्यक्ष हो रहा है और सीप और चांदीमें विभिन्नता बताने वाला जो विशेष धर्म है उसका प्रत्यक्ष नही हो रहा, लेकिन उस विशेषकी स्मृति हो रही हो तब संशय बनता है। जैसे सफेदीका तो प्रत्यक्ष है, जैसी सफेदी सीप में पाई जाती वैसी ही सफेदी चाँदीमें भी पाई जाती। उस सफेदी सामान्यका तो प्रत्यक्ष है, पर कठोर होना, कोमल होना, वजनदार होना, गैर-वजन होना आदिक जो कुछ विशेष बातें हैं अथवा उस सफेदीमें भी कुछ विशेषता लाने वाले जो धर्म हैं उनका प्रत्यक्ष नही हो रहा, लेकिन उन विशेषताओंका स्मरण हो रहा कि यह वजन-दार है अथवा नही? ऐसे इन तीन कारणोंसे संशयज्ञान बनता है, न कि सामान्यतया अनुपलम्भ मात्र होनेसे अभाव ही कहना युक्त बताया जा सकता है अभावप्रमाणवादी भट्ट मीमांसकके सिद्धान्तमें।

अभाव प्रमाण और संशयज्ञानके होनेके साधनोंकी विभिन्नता—जब विशेषकी प्रत्यक्षता व स्मृति नही और सामान्यतया अनुपलम्भ हो रहा तो अभाव प्रमाणवादी मीमांसकोंके वह अभाव माना गया है, लेकिन यहाँ तो अभाव नही है, क्योंकि जहाँ सामान्यका प्रत्यक्ष भी हो और विशेषका अप्रत्यक्ष हो और विशेषकी स्मृति हो, ये तीन कारण जुट जायें वहाँ संशय ही होता है। जो वस्तु उपलब्धि लक्षण प्राप्त है अर्थात् जो वस्तु दिख सकती है, प्राप्त हो सकती है फिर उसकी उपलब्धि न हो तो अभाव सिद्ध होता है। जैसे घट दिख सकता है पर वह दिखे नही तो कह सकते कि घटका अभाव है, पर अनुपलब्धि मात्रसे अभाव नही बनता। घटका अभाव है पर अनुपलब्धि मात्रसे अभाव नही बनता। जैसे यहाँ भूत नही पाया जाता तो कोई कहे कि यहाँ भूत नही है, यह बात प्रमाणसंगत न रहेगी क्योंकि हो भी और न दिखे ऐसा

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

भी तो हो सकता जो चीज दृष्टिगत हो सकती है फिर दृष्टिगत न हो उसका तो अभाव माना जा सकता है पर अनुपलम्भ मात्रसे अभाव नहीं माना जाता। सो अभावकी तो यह बात है और संशयकी यह बात है कि जो दृष्य हो सके उसमें जो सामान्य है, उसका तो हो रहा ज्ञान और विशेष धर्मोंका न हो रहा हो ज्ञान किन्तु विशेष धर्मोंकी स्मृति होती हो वहाँ संशय बनता ही है। इसपर बौद्ध कहते हैं कि तब तो फिर अनुपलब्धिसे ही संशय बन जायगा फिर यह कहना व्यर्थ है कि सामान्यके प्रत्यक्ष होने से विशेषके अप्रत्यक्ष होनेसे व विशेषकी स्मृति होनेसे संशयज्ञानकी उत्पत्ति होती है। अब इस शंकाके उत्तरमें भट्ट कहते हैं कि यदि सामान्यकी प्रत्यक्षता होनेपर भी उपलब्धि लक्षण प्राप्त वस्तुकी अनुपलब्धि न हो तब तो संशय हो सकता है, पर यहाँ यह बात तो नहीं है। अर्थात् सामान्यकी प्रत्यक्षता होनेपर उपलब्धि लक्षण प्राप्त वस्तुकी अनुपलब्धि हो ऐसा यहाँ नहीं है अतएव उक्त दोष नहीं दिया जा सकता।

अनुपलब्धि लक्षणप्राप्तानुपलब्धिमें ही संशयहेतुता प्राप्त होनेसे यज्यादिमें सामान्यतो दृष्टानुमानताकी प्रसक्ति होनेकी आरेका — अब बौद्ध कहते हैं कि फिर तो अनुपलब्धि लक्षण प्राप्त वस्तुकी अनुपलब्धि होना संशयका कारण हो गया यह बात मानलेना चाहिये अथवा मानना होगा फिरयह तीसराविशेषण देनाकी विशेष की स्मृति भी हो तब संशय होता है तो यह विशेष स्मृतिका हेतु देना व्यर्थ है, क्योंकि विशेषकी स्मृतिको छोड़कर और कुछ संशय ही नहीं कहलाता। दो विशेष अंशोंका अवलम्बन करने वाला जो स्मरण है वही तो संशय कहलाता है। जैसे संशयमें सोचा गया कि यह सीप है या चाँदी तो देखो सीप भी विशेष है और चाँदी भी विशेष है, और दोनोंका आलम्बन हुआ है उसके स्मरणमें। तो जिस स्मरणमें दोनों विशेषों का अवलम्बन होता हो उस ही को तो संशय कहते हैं। उसमें सामान्यका प्रत्यक्ष होना एक हेतु बताया जाय इसकी आवश्यकता नहीं है। सामान्यका प्रत्यक्ष न होनेपर भी अनेक जगह संशय ज्ञान बन जाता है। जैसे कि एक नगर देखा दूर, अब उस नगर को देखकर यह संशय होता है कि यह कान्यकुब्ज नगर है या कोई दूसरा नगर है। जैसे किसी मुसाफिरको चलते हुए दूरसे कोई गाँवके विषयमें वह सन्देह कर सकता है कि यह फलाना गाँव है या नहीं। तो उस मुसफिरको सामान्यका कहाँ प्रत्यक्ष हुआ। उसने तो मकान देखा सो तो विशेष ही वस्तु है सामान्य वस्तु तो नहीं है। तो सामान्यका प्रत्यक्ष भी न हुआ और स्मरण बन बैठा। तो सामान्यके प्रत्यक्ष हुए बिना भी प्रथम ही प्रथम एक दम स्मरण होनेसे संशय बन जाता है इस कारण करोति इस क्रियामें जो भाव पड़ा है, जो अर्थ भरा है वही पचति आदिक शब्दोंमें भी धात्वर्थ पड़ा है। तो करोति इस प्रकारका जो उल्लेख करना है वह समानरूपसे बिना विशेषताके यजते आदिकको भी प्रतीत कर रहा है। तब एकरूपसे देखे गए, अपने सामान्यतया देखे गए लिङ्गका उत्पन्न हुआ जो अनुमान है वह हुआ करता है इस कारणसे यज्यादिक भी सामान्य कहलाया क्योंकि यह भी सामान्यरूपसे देखा जा रहा है। जो बात

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

जिस प्रकारसे देखी जाती है वह बात उस ही प्रकारसे होती है। जैसे नील अर्थ नील रूपसे देखा जाता है तो वह नील ही कहलाया। भट्ट लोग जो यह कहते है कि यज्यादिक सामान्य नही होता पूजना, पकाना आदिक जो भिन्न भिन्न धातु हैं ये सामान्य नही हैं क्योंकि उनमें यज्यादिकसे भिन्न करोति सामान्य असम्भव है। याने न पूजा, न पकाया, न देखा याने कुछ भी विशेष काम न करे उसे कहें कि कर्ता है तो यह कैसे सम्भव है ? कुछ विशेष कर रहा हो उसीमें सामान्यया यह कहा जा सकता कि कुछ कर रहा है। जैसे कि सत्त्व सामान्य यदि असम्भव है तो घट आदिक विशेष पदार्थों की सत्ता ही नहीं हो सकती। सत्ता सामान्य है तब घट विशेष है। अथवा कहो कि जब घटपट आदिक अावान्तर सत् हैं तो सामान्य सत्ताकी बात भी कही जा सकती है। इस तरह जो भट्ट यज्यादिकको सामान्य नही मानते उसके कथनपर सौगतों द्वारा कहा जा रहा है कि यज्यादिक सामान्य न भी हों, यज्यादिकसे भिन्न कोई करोति सामान्य आदि भी अर्थात् अपनेसे भिन्न करोति सामान्य न होनेपर भी यज्यादिक सामान्य बन जाते हैं। क्योंकि वहाँ तो सिर्फ इस प्रतीतिकी आवश्यकता है कि यह सामान्य है, सामान्य है। इस प्रतीतिरूप अनुमान बने तो वहाँ सामान्यपनेकी बात बन जाती है। और, जैसे पर सामान्य और अपर सामान्य इनमें कोई सामान्यान्तर नही है अर्थात् पर सामान्य भी सामान्य है, अपर सामान्य भी सामान्य है। अब इसमें कोई अन्य सामान्य जुटे तब तो सामान्य कहाये ऐसी बात नहीं है। इन दो से व्यतिरिक्त अन्य कोई सामान्य नही है तो भी यह सामान्य सामान्य, इस प्रकारकी प्रतीतिरूप अनुमान होनेसे सामान्य कहलाता है इसी प्रकार यज्यादिकसे व्यतिरिक्त कोई सामान्य न भी हो तो भी यज्यादिक सामान्य कहलाता है। इस तरह जब करोति और यजते आदिक धात्वर्थ अभेद हुए, एक हुए तब उनसे भावना अर्थ नियोग अर्थ आदिक निकालना ठीक नहीं है।

भट्टमीमांसक द्वारा करोत्यर्थ सामान्यके निश्चयमें व यज्याद्यर्थ विशेष के अनिश्चयमें संशय माननेका प्रतिपादनरूप समाधान—उक्त प्रकार क्षणिकवादियोंके द्वारा प्रतीति वाक्यार्थताका निराकरण किये जानेपर भट्ट कहता है कि यह सब प्रज्ञाकरका कहना प्रज्ञाके अपराधसे ही बढ़ाई गयी बात है। देखो ! करोति अर्थ सामान्यके निश्चय होनेपर और याज्यादिक अर्थ विशेषका अपरिज्ञान होनेपर ही विशेष में संशय होना माना गया है। संशयका जो मूल लक्षण किया गया है कि सामान्यका तो हो ज्ञान और विशेषका न हो ज्ञान व विशेषकी स्मृति हो तभी संशय बनता है। तो करोति है सामान्य और यजते, पचति आदिक अर्थ है विशेष तो जब करनेका तो निश्चय हो रहा हो कि कर रहा है कुछ, पर विशेषका ज्ञान नही है कि क्या कर रहा है, उस ही समय संशय होता है। जब कोई कहे कि देवदत्त करता है—क्या करता है ? पूजा करता है, या रसोई बनाता है ? देखो ! यहाँ सामान्यका निश्चय होनेपर और विशेषका अपरिज्ञान होनेपर ही संशय बना है। इस सम्बन्धमें जो क्षणिकवादियों

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

ने यह दोष दिया था कि यदि विशेषोंके प्रसंगमें संशय बनता है तो घटके निश्चय होनेपर और हिमालयका निश्चय न हो तो वहाँ भी संशय बन बैठे यह बात यों युक्त नही कि संशय होता ही तब है जब सामान्य तो हो निश्चित् और उससे अतिरिक्त अन्य विशेष हो अनिश्चित् तभी संशय बनता है, इसी कारण यहाँ प्रसंग दोष भी नही आता। सामान्यका निश्चय हो और विशेषका अनिश्चय हो तब संशय बनता है, यह सम्बन्ध यों है कि सामान्य और विशेषमें कथंचित् अभेद है। जैसे कि जहाँ यह जाना जा रहा था कि यह सीप है या चांदी है ? तो वहाँ विशेष तो हुए सीप चांदी और उनमें सामान्य है सफेदरूप, तो सफेदरूपपना दोनोंमें रहता है चाँदीमें भी और सीपमें भी। तो अब देखिये ! उस सामान्यका विशेषमें कथंचित् अभेद हुआ कि नहीं ? उपयोगमें आया, अविशेष रूपसे जाना गया, यों सामान्य और विशेषमें कथंचित् अभेद है अतएव सामान्यके निश्चित् होनेपर और विशेषके अनिश्चित् होनेपर ही संशय होता है। लेकिन हिमालय और घट इनमें तो परस्पर अत्यन्ताभेद है। वहाँ यह बात नही कह सकते कि घटके निश्चित् होनेपर हिमालयके अनिश्चित् होनेपर वहां भी संशय बन जाय कि घट है कि हिमालय है ? यह प्रसंग यह उलहना नही बन सकता है, क्योंकि हमारा यह कथन नही है कि एक चीजके निश्चय होनेपर और किसी अन्य चीजके अनिश्चय होनेपर सन्देह हो, ऐसा नियम नही बनाया जा रहा, किंतु सामान्य का तो निश्चय हुआ जो सामान्य उन दो विशेषोंमें रह सकता है और विशेषका अनिश्चय हो और फिर विशेषकी स्मृति हो तब संशय बना करता है। तो सामान्य चूँकि विशेषोंसे कथञ्चित् अभिन्न है, अतः संशयके होनेमें यह तीन प्रकारतामें ही हेतुपना बनता है।

सामान्याक्षेपपक्षनिक्षिप्तदोषका परिहार—और भी निरखिये ! यह भी नही है कि सामान्यसे स्वीकार किए गये विशेषमें उस विशेषरूप संशयका ज्ञान बन जाय। तो सौगतने जो यह आक्षेप किया था कि संशय कुछ चीज नही है। सामान्यसे स्वीकार किए गए विशेषमें ही कुछ बोध होनेका नाम संशय है सो यह बात नहीं बनती जिससे कि सामान्यके द्वारा विशेषका आक्षेप करनेके पक्षमें दिया गया दोष लग सके और इस ही प्रकार अविवक्षित विशेषोंमें अविशेषरूपसे संशयका प्रसंग भी नही आता, क्योंकि स्मरणके विषयमें ही विशेषरूपसे एक जगह संशयकी प्रतीति होती है याने विवक्षित वस्तुके सामान्यके अविनाभावी विशेषोंमें जो कि बहुत हो सकते हैं उनमेंसे किसी एक स्मरणके विषयभूत विशेषमें संशय घटता है।

संशयके प्रसंगमें किसी अन्यतममें इष्टताकी संभावना—संशयके प्रसंगमें प्रायः एक बात और खास जानना है कि जैसे पुरुषको संशय होता है तो संशयमें दो या अनेक बातें आती हैं। उनमेंसे किसी न किसी अंशमें एक चीज इष्ट रहती है। जैसे सीप और चांदीका संशय हुआ किसी पदार्थमें कि यह सीप है या चांदी तो उस पुरुष

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

को किन्हीं अंशोंमें चांदीसे प्रेम है और इसमें वह बहुत खुश होगा। यदि यह सिद्ध हो जाय कि यह चाँदी है तो जो विवक्षित वस्तु है उसमें जो सामान्य धर्म है वह सामान्य धर्म जिन जिन वस्तुओंमें पाया जा रहा है उन समस्त विशेषोंमेंसे किसी एक वस्तु का स्मरण होनेके प्रसंगमें संशय घटित होता है। लेकिन जो अविवक्षित है ऐसी वस्तु के उन विशेषोंमें संशय नहीं होता। क्योंकि संशयका लक्षण यह किया गया है कि सामान्यका प्रत्यक्ष हो और विशेषका अप्रत्यक्ष हो तथा विशेषकी स्मृति हो, इन तीन हेतुओंसे संशय ज्ञान होता है।

अभाव और संशयकी विभिन्नसाधननिबन्धनता—देखिये ! सामान्यके उपलम्भ होनेपर और सामान्यके अविनाभावी विशेषका अनुपलम्भ होनेपर भी अभाव सिद्ध नहीं होता अर्थात् सामान्य तो ज्ञानमें आ रहा है और सामान्यका अविनाभावी विशेष ज्ञानमें आ नहीं रहा। तो इतने मात्रसे अभाव सिद्ध न हो जायगा। क्योंकि सामान्यके पाये जानेपर और विशेषके न पाये जानेपर यदि अभाव मान लिया जाता है विशेषका, तो यों भी तो कहा जा सकता है कि विशेषका उपलम्भ होनेपर और सामान्यका अनुपलम्भ न होनेपर सामान्यका अभाव हो जायगा। मतलब यह है कि विशेषका अभाव होनेपर सामान्यका भी अभावका प्रसंग आता है। प्रकृतमें यह समझिये कि यज्यादिक अर्थ विशेष और करोति अर्थ सामान्य है तो जैसे इस सम्बन्धमें कोई यह कह सकता है कि करोति सामान्य अर्थका तो उपलम्भ है और यज्यादिक विशेष अर्थका अनुपलम्भ है इसलिए विशेषका अभाव है तो उपलम्भ है और करोति सामान्य अर्थका उपलम्भ है तो यों करोति सामान्यका भी अभाव हो जायगा। बात यथार्थ यह है कि विशेष रहित सामान्य कुछ चीज ही नहीं है। जैसे खरगोशके सींग चूंकि विशेष कुछ नहीं हैं इनमें आवान्तर सत्त्व नहीं है। जो अर्थक्रिया करे, परिणमे उस हीको तो विशेष कहते हैं। तो विशेष न होनेसे सामान्य असत् हो जाता है और इसी तरह सामान्यरहित होनेसे विशेष भी असत् हो जाता है। सामान्य न हो तो विशेष भी क्या, विशेष न हो तो सामान्य भी क्या ? तो इससे यह मानना चाहिये कि करोति सामान्य अर्थ है और यज्यादि विशेष अर्थ है। विशेषके बिना सामान्य नहीं, सामान्यके बिना विशेष नहीं। तो इस तरह जब यह सिद्ध हो गया कि विशेषोंके अनुपलम्भसे सामान्यका अभाव सिद्ध है। तो ऐसा सिद्ध होनेपर कोई कहे कि विशेष में अदृष्टाकी अनुपलब्धि होनेसे ही संशय बन जायगा सो बात नहीं कह सकते। क्योंकि केवल अदृश्यकी अनुपलब्धि होनेसे ही संशयज्ञान बन जाया करे तो फिर इसमें स्मृति निरपेक्षताका प्रसंग हो जायगा। तो बिना ही स्मरण हुए जहां चाहे कुछ भी संशय हो बैठे। जो अदृश्य है और वह अनुपलब्ध रहे और उससे संशय ज्ञान मान लिया जाय तो अदृश्यकी अनुपलब्धि तो सदा है, तो सदा संशय हो। अथवा जितने संशयज्ञान हैं उनमें स्मृतिकी अपेक्षा करनेकी कोई आवश्यकता ही न समझी जाय। तो यों सारे ज्ञान जितने भी संशयरूप हैं वे सब स्मृति निरपेक्ष बन

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

बैठेंगे । अतः यह भी नहीं कह सकते कि अदृश्यकी अनुपलब्धिसे ही संशय ज्ञान बन जाता है।

विशेष स्मृतिमात्रमें संशयपनेकी असिद्धि—अब यहाँ क्षणिकवादी कहते हैं कि तब विशेषका स्मृत होना ही संशय है ऐसा मान लीजिए। समाधानमें भट्ट कहते हैं कि यह कहना ठीक नहीं है। यों तो साध्य साधनकी व्याप्तिका स्मरण करना भी संशय बन बैठेगा क्योंकि साध्य साधन भी विशेष तत्त्व है और उनकी व्याप्तिका विशेष स्मरण हो रहा है। विशेषकी स्मृतिको संशय माननेपर साध्य साधनकी व्याप्तिका स्मरण भी संशय बन बैठेगा। अब यहाँपर बौद्ध शंकाके समर्थनमें कहते हैं कि साध्य साधनकी व्याप्तिके स्मरणके प्रसंगमें यह होता है कि जितने भी साधन हैं उन सब साधनोंके संशयित साध्यके साथ व्याप्तिकी आपत्ति आ जाती है। और उस समय साध्य साधनकी व्याप्तिका स्मरण अचलित होता है इस कारण संशय नहीं है। इस शंकासमर्थनका भाव यह है कि जैसे कहा कि इस पर्वतमें अग्नि है धूम होनेसे। अब यदि धूम और अग्निकी व्याप्तिका स्मरण होता है तो क्यों होता है कि इस स्मरणके प्रारम्भमें यह प्रसंग आता है कि दुनियामें और जितने साधन हैं क्या सभी साधनोंके साथ इस अग्निसाध्यकी व्याप्ति है ? इन सब साधनोंका अग्निके साथ व्याप्ति होनेकी आपत्ति होनेसे फिर साध्यसाधनकी जो व्याप्तिका स्मरण हुआ, सही तौरमें माना कि जहाँ जहाँ धुवाँ होता है वहाँ वहाँ अग्नि होती है, तो इस व्याप्तिका स्मरण दृढ़ है इस कारण साध्यसाधनकी व्याप्तिके स्मरणका संशय होनेका प्रसंग नहीं आता। तो उत्तरमें कहते हैं कि तब तो यह सिद्ध हुआ कि चलित प्रतीतिको संशय कहते हैं। अर्थात् जहां अनिश्चित् ज्ञान होता है वह संशय कहलाता है और वह चलित प्रतीति दोनों विशेषोंके स्मरणके उत्तरकालमें ही होती है। जिन दो चीजोंका संशय बना हुआ है उन दोनों विशेषोंका स्मरण हुआ, उसके बाद फिर चलित प्रतिपत्तिका अवसर होता है क्योंकि संशयमें अन्वयव्यतिरेकसे उभय विशेष स्मृतिका अनुविधान है अर्थात् पहिले दोनों विशेषोंका स्मरण हो ले तब संशयका अवसर आता है। जैसे कि कहीं सीप दिखी और देखने वालेको सीप देखनेके बाद पहिले सीप और चाँदीका स्मरण हुआ, उसके बाद फिर चलित प्रतिपत्ति होती है। तो इस तरह चलित प्रतिपत्तिका ही नाम संशय बना। विशेष स्मृतिका नाम संशय नहीं बन सकता जैसे कि सामान्यकी उपलब्धिको संशय नहीं कहते इसी प्रकार विशेषकी स्मृतिको भी संशय नहीं कहते। और क्षणिकवादीका यह भी कथन निरर्थक है कि दोनों अंशोंका, विशेषोंका अवलम्बन लेने वाली स्मृतिको संशय कहते हैं क्योंकि साध्य साधन इन दोनों अंशोंका अविचलन होनेपर भी, निश्चलपना होनेपर भी संशय होनेका प्रसंग आयगा अर्थात् उभय अंशोंका अवलम्बन करनेपर संशय ज्ञान होता है, ऐसा माननेमें जब साध्य और साधन इन दोनों अंशोंका आश्रय लिया जाता है, व्याप्तिमें साध्य और साधन दोनोंका स्मरण होता है तो वह भी संशय बन बैठेगा क्योंकि यहां मान रहे हो कि दोनों अंशों

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

का अवलम्बन लिया जाता है ।

सामान्यकी अप्रत्यक्षता होनेपर भी कन्याकुब्जादि नगरमें संशय संभव होनेसे सामान्योपलम्भमें संशयहेतुताकी असिद्धिकी शंका और समाधान— अब यहाँ सौगत कहते हैं कि सामान्यका अप्रत्यक्ष होनेपर भी कन्याकुब्ज आदिक नगरोंमें प्रथम ही स्मरण होनेसे संशय देखा गया है अर्थात् किसी नगरको देखकर उसका सामान्य कुछ नजर न आया, नगर-मकानका समूह यही सब दृष्टिमें आया है, तो उस समय अर्थात् सामान्य प्रत्यक्षमें नहीं हुआ, फिर भी उस नगरके सम्बन्धमें संशय देखा जाता, इस कारण यह बात तो युक्त न रही कि सामान्यका उपलम्भ संशय का कारण होता है। इसपर समाधानमें कहते हैं कि यह कहना युक्तिसंगत नहीं है। यहाँ जो शंकाकार यह बता रहा है कि नगरके दिखनेपर सामान्यका प्रत्यक्ष नहीं हुआ यह बात असिद्ध है क्योंकि उस प्रसङ्गमें भी मकान आदिककी रचना विशेष सम्बन्धी संशय जो उत्पन्न हुआ है कि यह कन्याकुब्ज नगर है या अन्य कोई नगर है ? यह संशय कन्याकुब्ज नगरके सामान्यकी उपलब्धिपूर्वक ही हुई है अर्थात् जो प्रसाद आदिक बने हुए हैं ऐसे महल आदिक अन्य नगरोंमें भी सामान्यरूपसे पाये जा सकते हैं अर्थात् उसी तरह पाये जा सकते हैं जैसे कि कन्याकुब्ज नामके नगरमें प्रासाद आदिक पाये जाते हैं अर्थात् कन्याकुब्ज नगर और अन्य नगरोंमें समानतया जो एक प्रासादसन्निवेश है, महलकी रचना है उसकी उपलब्धि यहां सामान्यकी उपलब्धि कहलाती है। तो वहाँ यह विशेष अर्थात् महल आदिककी रचना सामान्यरूपसे ज्ञात हुई है। यदि सर्वथा अनुपलम्भ हो अर्थात् सामान्यरूपके भी विशेषका उपलम्भ न हो तो संशयका विरोध है। जैसे सर्वप्रकार उपलम्भ हुई चीजमें संशय नहीं होता इसी प्रकार विशेषका सामान्यरूपसे भी उपलम्भ न हो तो वहाँ भी संशय नहीं बन सकता। सामान्यका सद्भाव और विशेषका अभाव इन दोनोंको विषय करने वाला संशय होता है। सो कन्याकुब्जनगरके विषयमें भी संशय नगर आदिक सामान्यकी उपलब्धि पूर्वक ही हुआ है, अर्थात् जिस नामके नगरमें संदेह हो रहा है कि यह कन्याकुब्ज नगर है अथवा नहीं तो विवक्षित नगरमें और नगरमें वह महल रचना सामान्यतया दृष्टिमें आयी है। तो सामान्यकी उपलब्धि होना और विशेषकी उपलब्धि न होना और विशेषकी स्मृति होना इससे संशय ज्ञान उत्पन्न होता है यह बात कन्याकुब्ज नगरके संदेह वाले ज्ञानमें भी घटित होती है अर्थात् वहाँ इस दृष्टाको वह महल सामान्य रचना तो दृष्टिमें आया, जैसे कि महल होते हैं, सभी नगरोंमें सम्भव हैं और विशेषकी उपलब्धि हुई नहीं। कन्याकुब्ज नगरकी खास जो रचना है, जो थोड़ा निकट जाकर जाना जा सकता है उसका ज्ञान नहीं हुआ और हो रहा है स्मरण कन्याकुब्ज नगर विशेषका, तब यह संशय होता है कि यह कन्याकुब्ज नगर है अथवा नहीं? तो इस संशयके प्रसंगमें नगर विशेषकी सामान्यता उपलब्ध हुई है सामान्यरूपसे नगर आदिक ज्ञानमें आते यह बात तो प्रसिद्ध ही है सभीके प्रत्यक्षमें और संशयमें इस प्रकारके प्रसंग आते हैं, कन्या-

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

कुब्ज आदिक नामका वह नगर है अथवा नही है ऐसे दो अंशोंका अवलम्बन करने वाले ज्ञानकी उत्पत्ति होनेसे यह नगरपना नही है कुछ ऐसा नही कहा जा सकता। नाम लेकर भी, विशेषका स्मरण करके भी जो दोनों अंशोंका अवलम्बन लेने वाला ज्ञान हो रहा, जैसा कि संशय ज्ञानमें हुआ करता है, सो यहाँ यह नही कह सकते कि जब कन्याकुब्ज और अन्य नगर विशेषका आलम्बन हुआ, ज्ञानमें तो नगरपन सामान्य कुछ न रहा। यह बात क्यों नही कह सकते, यों कि महल आदिकका जो समूह है उसकी समानता, निकटता होनेका ही नाम नगरपना है। नगरपनेका अर्थ क्या है कि ऐसे मकान होना जैसे सभी नगरोंमें हुआ करते हैं। केवल महल आदिककी समानता निकटतासे ही नगररूपसे वर्णन किया गया है। वहाँपर यह नगर है, यह नगर है इस प्रकारका सब नगरोंमें सामान्यरूपसे पाये जाने वाले ज्ञानका जो हेतु है जो कारण है वही तो नगरत्व सामान्य है। जैसे अनेक नगरोंको सोचकर निरखकर यह ज्ञान होता ना कि यह भी नगर है, नगर नगररूपसे जो एकव्यापी ज्ञान बन रहा है उसका कारण क्या है ? क्या निरख करके यह नगर नगररूपसे अनुस्यूत ज्ञान हो रहा है उसका कारण वही रचना है। और वही है नगरत्व सामान्य। तो ऐसे नगरत्व सामान्य की सिद्धि होनेसे अब सामान्यकी उपलब्धि पूर्वक उस नगरके विशेषका संशय होना यह विरुद्ध नही होता अर्थात् नगरत्व सामान्यकी उपलब्धि हुई है और नगर विशेषों का स्मरण हुआ है, और नगर विशेषकी उपलब्धि हुई नही, ऐसी हालतमें ही य कन्याकुब्ज नगर है अथवा नही, यह संशय हो जाता है। इसमें कोई विरोधकी बात नही है।

करोत्यर्थ सामान्यकी प्रत्यक्षता,यजते पचति अर्थविशेषकी अप्रत्यक्षता व स्मृतिके कारण इस प्रसगमें भी संशय होनेकी युक्तताका प्रतिपादन—

नगरत्वसामान्यकी उपलब्धि और कन्याकुब्जनगरकी अनुपलब्धिकी भांति इस प्रकृत प्रकरणमें भी समझिये कि करोति अर्थ सामान्यकी तो उपलब्धि है और विशेष यज्यादिक अर्थकी अनुपलब्धि है और अनेक विशेष धात्वर्थोंका स्मरण है तब यहां संदेह होना युक्त है। यहां मूलप्रसंग यह चल रहा है कि क्षणिकवादी वेदवादियोंसे यह प्रश्न रख रहे हैं कि जो एक धातुका अर्थ है धातु होनेसे धातुवोंका समस्त अर्थ वही एक होता है। तो जब धातुवोंके विशेष अर्थ कुछ न हुए, जो एक करोतिका अर्थ है वही यजते पचते आदिक क्रियाका है। तो जब क्रियाका अर्थ भिन्न–भिन्न नही ठहर सकता तब नगर अथवा भावना ये बातें नही बन सकती हैं। किस कार्यमें किसे लगाना है, कार्य तो सब एक ही स्वरूपके हैं। इस तरह विशेष यजते पचते आदिक धातुवोंका भिन्न अर्थ निराकृत करके क्षणिकवादी भावना और नियोग अर्थका खण्डन कर रहे हैं तब वेदवादी और इस प्रसंगमें भावनावादी भट्ट कह रहे हैं कि यदि करोति अर्थका और यजते पचति धातुओंका एक ही रूप अर्थ होता तो फिर कोई इसमें सदेह क्यों करता ? जैसे किसीने कहा कि देवदत्त करता है, तो सुनने वाला यह प्रश्न क्यों करता

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

कि क्या करता है ? यह संदेह उठना इस बातका सूचक है कि यजते पचति आदिक धातुवोंका भिन्न-भिन्न विशेष अर्थ है, और, संदेह हुआ कि हेतु तीन होते हैं सामान्य की उपलब्धि, विशेषकी अनुपलब्धि और विशेषका स्मरण। सो यह प्रक्रिया इस प्रसंग में भी पायी जाती है। यहां करोति अर्थका तो प्रत्यक्ष हुआ, सुना, परिज्ञान किया और यजते पचति आदिक विशेष धात्वर्थका ज्ञान न हुआ और स्मरण हो रहा विशेष क्रिया का, तभी संदेह होता है कि देवदत्त क्या करता है ? और, जब सन्देह सिद्ध हुआ तो इससे यह भी सिद्ध हुआ कि सन्देहका जो उत्तर है वह सब विशेष अर्थ वाला है। जो करोतिका अर्थ है ऐसे अभेदरूपसे उस यज्य आदिकको नही समझा जा सकता है, अर्थात् करोतिका अर्थ और यजते आदिकका अर्थ एक अभेदरूप हो ऐसी बात पायी ही नही जाती। इससे धात्वर्थ हैं भिन्न-भिन्न और उनसे भावना और नियोगका अर्थ बराबर बन जाता है।

क्षणिकवादियों द्वारा सामान्यके निराकरणका प्रयास और भट्ट मीमांसक द्वारा उसका निराकरण—अब यहाँ क्षणिकवादी शंका करते हैं कि सामान्यके बिना भी तो सामान्य ज्ञान कर लिया जासकता है जैसे कि पर सामान्य तो महासत्ता है और अपर सामान्य अवान्तरसत्ता है इन दो सामान्योंके अलावा और कोई सामान्य तो है नही, किन्तु उन पर व अपर दोनों सामान्योमें "यह सामान्य है यह भी सामान्य है" ऐसा सामान्यका ख्याल बन जाता है, दोनों सामान्योंमें व्यापी अन्य सामान्य है तो नही फिर सामान्यके बिना भी सामान्यका ख्याल बन गया सो सामान्य कोई वस्तुभूत तो सिद्ध न हुआ। इस शंकाके उत्तरमें कहते हैं कि जैसे सत्व सामान्यके अभावमें घटादिक का अस्तित्व अनित्य हो जाता है, यों ही करोत्यर्थके अभावमें परापर सामान्यमें "सामान्य है सामान्य है" इस प्रकारके सामान्यका अनियमसे उपलम्भ हो गौणरूपसे है, औपचारिक है क्योंकि सामान्यमें सामन्यान्तरके होनेकी असंभवता है अर्थात् सामान्यमें अन्य सामान्यमें नही पाया जाता। यदि सामान्यमें अन्य सामान्य पाया जाय तो अनवस्था दोष हो जायगा। तो पर सामान्य और अपर सामान्यमें सामान्यकी उपलब्धि गौण हुई। यहाँ यह भी नही कहो जा सकता कि फिर तो सभी जगह सामान्यके बिना ही सामान्य बोध गौण हो जायगा, यह क्यों नही कहा जा सकता ? क्योंकि मुख्यके अभावमें गौणकी उत्पत्ति नही होती। परसामान्य और अपरसामान्यमें गौणका ज्ञान करना यह यों नही बनता कि मुख्य सामान्य जब तक न मानेंगे तब तक किसी दूसरेको गौण नही कहा जा सकता। अब क्षणिकवादी बोलते है कि प्रतिभासमान जो सामान्याकार है, अन्यापोहरूप बाह्य अर्थ है वह मुख्य है और वही स्वलक्षणोंमें अर्थात् पारमार्थभूत अणु आदिक अर्थमें जब आरोपित किया जाता है वह सामान्याकार तो गौण हो जाता है, इस तरहसे मुख्य सिद्ध हुआ और गौण भी सिद्ध हुआ। उत्तरमें भट्ट कहते हैं कि यह बात कहना युक्त नही है क्योंकि अणु क्षणिकोंमें भी विशेषाकार अर्थात् स्वलक्षणरूपपना भी गौण हो बैठेगा क्योंकि वहाँ भी ऐसा कहा जा सकता है कि

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

प्रत्यक्षज्ञानमें अर्थात् निर्विकल्प ज्ञानमें प्रतिभासमान हुआ विशेषाकार तो मुख्य है और बाहरी स्वलक्षणमें आरोपित किए गए वे विशेषाकार गौण हैं, ऐसा भी कहा जा सकता है।

सामान्य और विशेषका वाह्य असत्त्व होनेसे विज्ञानवादके समर्थनका प्रयास और उसका शोधन — अब क्षणिकवादियोंका एक सम्प्रदाय कहता है कि ऐसा ही सही कि सामान्य और विशेष दोनोंका बाहर असत्त्व है। यही तो उक्त आपत्ति देकर कहना चाहते हैं ना, तो ऐसा होनेपर भी बात तो यही सिद्ध हुई कि ज्ञानविशेष ही परमार्थसे सत् है। वाह्य पदार्थ विशेष वास्तविक नही है और ऐसा माननेपर विज्ञानवादियोंका सिद्धान्त आ गया, रहा तो सौगतमत ही आखिर। विज्ञानवादमें माना है कि सारा लोक, सारा विश्व केवल विज्ञान मात्र है। इसपर भट्ट उत्तर देते हैं कि विज्ञान सामान्य वस्तुभूत है और बाह्य अर्थ सामान्य वस्तुभूत नही है, ऐसा माननेपर वह सामान्य विशेषात्मक विज्ञान ही तो बना अर्थात् ज्ञानमें पहिले सामान्यको तो स्वयं मान लिया गया था' अब विकल्प बुद्धिमें प्रतिभासमान हुआ सामान्याकार मुख्य है। यह परमार्थ सत्पना सिद्ध किया जा रहा, सो विकल्पज्ञानमें सामान्याकारके मान लेनेसे निर्विकल्प ज्ञानमें सामान्यकार न माननेमे दोष हट जायगा यह बात नही हो सकती, क्योंकि विकल्प ज्ञानके स्वरूपमें निर्विकल्प रूपसे बाह्य सामान्याकारको भी मुख्यरूपसे मान लिया गया है। तब परमार्थसे ज्ञान सामान्य-विशेषात्मक है, यही सिद्ध हो जाता है। तब क्षणिक विज्ञान जोस्वलक्षणवादियोंका सिद्धान्त है वह तो न बना।

सामान्याकारताका वास्तविक विकल्प —अब पुनः क्षणिकवादी कहते हैं कि बात यह है कि विकल्पज्ञानमें भी वास्तविक सामान्याकार नही है। घट पट आदि जो एक सामान्य रूपसे आकार है. विकल्प ज्ञानमें भी वह वास्तविक नही माना गया है, विकल्प ज्ञानमें भी वास्तविक सामान्कार नही है। घट पट आदिक जो एक सामान्यरूपसे आकार है, विकल्प ज्ञानमें भी वह वास्तविक नहीं माना गया है, क्योंकि घट पट आदिक बाह्य अर्थको सामान्याकारताका ज्ञान होना अनादि अविद्यासे उत्पन्न कराया गया है। परमार्थतः सत् तो असाधारण सम्वेदन स्वरूप ही है, इसलिए उक्त दोष नहीं दिया जा सकता। इस प्रकार भट्ट उत्तर देते हैं कि इस कथनको विपर्यय रूपसे भी कल्पित किया जा सकता है, यह कहा जा सकता है कि सम्वेदनमें भी जो असाधारण आकार होता है वह स्वलक्षण मात्र पारमार्थिक नही है, क्योंकि सम्वेदनमें होने वाले असाधारण आकार भी अविद्याके उदयसे उत्पन्न हुआ है और सम्वेदन सामान्य ही वास्तविक है। ऐसा यदि कोई उल्टी तरहसे कहे जैसा कि क्षणिकवादियोंने कहा था सो यह उससे विपरीत कथन करना निवारित नही किया जा सकता। यहाँ क्षणिकवादी कहते हैं कि सम्वेदन सामान्य वास्तविक नही है क्योंकि सम्वेदन सामान्यको

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

वस्तुभूत माननेपर किस प्रकार रहता है ? वह एक अनेकमें रहता है आदिक विकल्प करनेपर निराकृत हो जाता है और सम्वेदन सामान्यको विषयभूत माननेपर अनवस्था आदिक दोष भी होते हैं। जैसे कि बाह्य अर्थ सामान्यको विषयभूत माननेपर वहाँ दोष दिया जा सकता, वह ही दोष सामान्यको वस्तुभूत माननेपर दिया जा सकता है। इसपर भट्ट उत्तर देते हैं कि तब तो फिर सम्वेदन विशेष भी परमार्थ सत् न रहेगा। इस सम्बन्धमें जब विचार किया जाता है तो यह युक्तिसंगत नहीं बैठता। जैसे कि बाह्य अर्थ विशेष विचारा जानेपर युक्तिसंगत नहीं बैठता यों ही सम्वेदन विशेष भी परमार्थ सत् सिद्ध न होगा। ऐसा यदि सम्वेदन सामान्य मानने वाला कहे तो इसे कहे तो इसे कौन निवारण कर सकता है ? और ऐसा सिद्ध हो जानेपर यदि कहो कि आश्रय सिद्ध हेतु बन जायगा तो यह बात दोनो जगह समान है। सम्वेदन सामान्यमें भी जैसी आश्रयासिद्धता बनती वैसी ही सम्वेदन विशेषमें भी आश्रयासिद्धता बन जायगी।

क्षणिकवादियों द्वारा संवित्सामान्यकी असिद्धिका कथन— इस प्रसंगमें क्षणिकवादी बौद्ध सम्वेदन सामान्यका निराकरण करना चाहते हैं क्योंकि ज्ञान सामान्यको माननेपर क्षणिकतामें बाधा आती है इस कारणसे बौद्ध सम्वेदन सामान्यको वास्तविक नहीं मानते। सम्वेदनका जो स्वलक्षण है, तत्कालका जो एक समयका स्वरूप है बस वही मात्र तत्त्व है, जिसे सम्वेदन विशेष नामसे कहिये। तो क्षणिकवादी सम्वेदन सामान्यका निराकरण करनेपर तुले हैं और यहाँ भाट्ट सम्वेदन सामान्यकी तरह सम्वेदन विशेषकी सिद्धि करने पर अड़े हैं, तो उन दोनोंकी चर्चाके प्रसंगमें अब क्षणिकवादी यह कहते हैं कि तुम्हारा सम्वित् सामान्य प्रमाण सिद्ध है या प्रमाणसे असिद्ध है ? यदि प्रमाण सिद्ध है तो यह बतलाओ कि वह सम्वित् सामान्य ज्ञान विशेषोंमें रहता है या ? रहना ही चाहिये, सामान्य विशेषोंमें रहता ही है। सो ज्ञान सामान्य ज्ञान विशेषोंमें रहता है तो वह ज्ञान सामान्य तो है एक और ज्ञान विशेष है अनेक तो उन समस्त ज्ञान विशेषोंमें यहज्ञान सामान्य पूरापूरा रहता है या थोड़ाथोड़ा रहता है ? यदि कहो कि सारे ज्ञान विशेषोंमें ज्ञान सामान्य पूर्णतया रहना है तो ज्ञान सामान्य एक न रहा। फिर तो जितने ज्ञान विशेष है, उतने ही ज्ञान सामान्य मानने पड़ेंगे, क्योंकि ज्ञान विशेषोंमें ज्ञान सामान्यको पूरे रूपसे समा गया मानते हो, और यदि कहो कि ज्ञान सामान्य सब ज्ञान विशेषोंमें थोड़ा–थोड़ा रहता है, क्योंकि ज्ञान सामान्य एक है, तो इसका भाव यह हुआ कि सभी ज्ञान विशेषोंमें ज्ञान सामान्य अधूरा–अधूरा रहा। तो यों भी नही बनता। दूसरी बात यह है कि ज्ञान सामान्य भी एक स्वतन्त्र पदार्थ हुआ, ज्ञान विशेष भी स्वतन्त्र पदार्थ हुआ। मीमांसकोंके यहां सामान्य और विशेष स्वतन्त्र स्वतन्त्र माने ही गए हैं। तो ज्ञानविशेषमें ज्ञानसामान्य किस तरह रह गया ? इस तरह अनवस्था आदिक दोष भी आते हैं और कदाचित् कहो कि ज्ञान सामान्य अप्रमाणसिद्ध है, प्रमाणसे सिद्ध नहीं है, असिद्ध है, तो हेतु आश्रयासिद्ध हो

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

गया। जबआश्रय ही नहीं है तो सत्ता किसकी सिद्ध करते हो ?

भट्ट मीमांसकों द्वारा क्षणिकवादपद्धतिसे संविद्विशेषकी असिद्धिका कथन — क्षणिकवादियोंके उक्त आशंका करनेपर भट्ट कहते हैं कि इस तरह सम्विद् विशेष भी निराकृत हो जाते हैं। बतलावो कि वह सम्विद् विशेष प्रमाणसिद्ध है या असिद्ध है ? प्रमाणसिद्ध है तो, अप्रमाणसिद्ध है तो, जो दोष पक्षकार द्वारा दिये गये है वे सब दोष यहाँपर भी लग जाते है। यदि आश्रयासिद्ध हेतुकी बात कहोगे तो यह बात सम्विद् सामान्यकी जैसे मानते हो उसी प्रकार संविद्विशेषमें भी लगेगा, यह दूषण देना समान है। अब क्षणिकवादी कहते हैं कि हे भट्ट जनो ! सम्विद्विशेषकी असिद्धिके लिये जो बाह्य अर्थ विशेषका दृष्टान्त दिया है वह तो साधनसे रहित है अर्थात् बाह्य अर्थमें संवेदन सामान्यपना न होनेसे बाह्य अर्थका अस्तित्व ही नही पाया जाता। सर्व विज्ञान अद्वैतमात्र है सो यह तो साधनसे रहित दृष्टान्त हुआ। तो इसपर भट्ट उत्तर देते हैं कि इस तरह तुम्हारा भी तो बाह्य अर्थ सामान्यका दृष्टान्त है अर्थात् सम्विद् सामान्यके निराकरण करनेके लिए जो बाह्य अर्थ सामान्यका दृष्टान्त दिया है उसमें भी साधनविकलता है अर्थात् उस अर्थ सामान्यमें भी तो सम्वेदन सामान्य नही पाया जा रहा। तो साध्य साधनविकलताका दृष्टान्त देना यह आक्षेप करना यह भी दोनों जगह समान है।

सम्विद्विशेषवादी और संवित्सामान्यवादीका आक्षेप प्रतिक्षेप— अब सौगत कहते हैं कि हमने तो सम्वेदनविशेष अद्वैत माना ही है। क्षणिकवादमें ज्ञान सामान्य अथवा कुछ भी सामान्य माननेका सिद्धान्त नहीं है, क्योंकि सामान्य माननेपर व्यापी भी बनेगा और ध्रुव भी बनेगा। लेकिन तत्त्व न व्यापी न ध्रुव है, परन्तु स्वलक्षणमात्र है तो सम्वित्का स्वलक्षण वही एक अद्वैत हुआ, उसे हमने माना ही है इस कारणसे यहसिद्ध साधन है, जो बात हम मानते है उसीका ही साधन करना हुआ। इसपर भट्ट उत्तर देते हैं कि फिर तो इस तरह सम्वेदन सामान्यका अद्वैत मानने से ब्रह्मवादी मीमांसकोंका भी सिद्ध साधन कैसे न बन जायगा ? सम्वेदन सामान्याद्वैत तो ब्रह्मवादमें माना ही गया है। अब सौगत कहते हैं कि सम्वेदन सामान्याद्वैत तो प्रतीति विरुद्ध है अर्थात् विश्वासमें, प्रतीतिमें, झलकमें ज्ञान सामान्यका अद्वैत आता ही नही है। जो कुछ व्यवहारमें अथवा ज्ञानमें आ रहा वह सब विशेष ज्ञान आ रहा। तो ज्ञानसामान्यका अद्वैत आता ही नही है। जो कुछ व्यवहारमें अथवा ज्ञानमें आ रहा वह सब विशेष ज्ञान आ रहा। तो ज्ञानसामान्यका अद्वैत तो प्रतीति विरुद्ध है और साथ ही इस कारण भी प्रतीति विरुद्ध है कि जब विशेष सम्वेदनके अभावमें चित्-सामान्यका भी असम्वेदन होता है। ज्ञान विशेष न माननेपर सामान्यज्ञानका भी अभाव हो जायगा। यों ज्ञान सामान्यका अद्वैत तो प्रतीति विरुद्ध है। इसपर भट्ट उत्तर देते हैं कि यों तो सम्वेदनविशेषका अद्वैत भी प्रतीति विरुद्ध ही होगा, क्योंकि सम्वेदन

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

सामान्यका ज्ञान न माननेपर सम्वेदन विशेषका सम्वेदन कभी भी नहीं हो सकता। जैसे जहाँ अस्तित्व ही नहीं है वहाँ घट पट आदिककी बात ही क्या चल सकती है ? सत्त्व सामान्यके अभावमें जैसे घट पट आदिक विशेष पदार्थ सिद्ध नहीं होते, उनका भी अभाव बनता है इसी प्रकार सम्वेदन सामान्यके अभावमें विशेष सम्वेदनका भी अभाव होता है। सम्वेदन विशेष भी कोई चीज नहीं ठहरती। इस तरह जितने आक्षेप दोगे उन सबका समाधान भी इसी समान होगा। सम्वेदन सामान्यके निराकरणमें जो भी युक्ति दोगे वे सबके सब सम्वेदन विशेषके निराकरणमें भी लागू होते हैं।

संविद्विशेष और संवित्सामान्यकी सिद्धिकी विधिसे करोत्यर्थ सामान्य व यज्याद्यर्थविशेष धात्वर्थ सिद्ध होनेसे संदेह व संदेहाहरणका अवसर—जब कि सामान्यके अभावमें विशेषका भी अभाव होता है तब बाधारहित प्रतीतिके बलसे विशेष व्यवस्थामें सामान्य व्यवस्था भी घटित हो जाती है। अर्थात् जैसे सम्वेदन विशेषकी सिद्धि करते हो तो उसमें सम्वेदन सामान्य तो अपने आप ही आ गया। जैसे मनुष्य सामान्य विशेष यदि कुछ सामने लाते हो तो मनुष्य सामान्य तो उसमें घटित ही पड़ा हुआ है। जो अन्त सम्वेदन है। भीतर जो ज्ञानका सम्वेदन होता है उसमें सामान्य बराबर प्रतिभासित होता है। जैसे कि भेद व्यवस्थामें विशेषज्ञानकी वर्तनामें विशेष प्रतिभास होता है उसी प्रकार जब ज्ञान स्वरूपका सम्वेदन किया जाता है तो वहाँ सामान्य भी प्रकट होता है, क्योंकि बाधारहित प्रतीतिसे सिद्ध होनेकी बात जैसे ज्ञान विशेषमें है वैसे ही ज्ञान सामान्यमें भी है। अतः सामान्य और विशेष दोनों मानने होंगे और इसी कारण श्रुतिवाक्यका अर्थ भावना नियोग आदिकरूपसे भली प्रकार घटित हो जाता है। करोति क्रियामें कुछ सामान्य करनेकी बात है, और यजते पचते आदिक क्रियामें कुछ विशेष करनेकी बात है। तो जब सामान्य और विशेष दोनों प्रकारसे धात्वर्थ बन गए तो संदेहका अवसर होता ही है। जैसे किसीने कहा कि देवदत्त करता है, तो करता है इतने सुनने मात्रसे स्पष्ट नहीं आ पाया कि क्या करता है। तब यह प्रश्न होता है कि देवदत्त क्या करता है ? तो जहाँ संदेह होता है वहाँ विशेष अवश्य होता है इसलिए दोनों ही एकरूप हुए। अभावरूप हुए, इस बातका निराकरण हो जाता है।

सर्वथा भेदवादका निराकरण करते हुए भेदाभेदात्मक वस्तुत्वका समर्थन—सामान्यविशेष व्यवस्था सिद्ध होनेके कारण क्षणिकवादी आचार्योंका अन्यापोह व दृष्टानुमान सामान्यका सिद्धान्त भी निराकृत हो जाता है, क्या ? कि क्षणिकाचार्योंका कहना है कि अन्यरूपसे परिहार करना अर्थात् अन्यापोह करना यही वस्तुमात्रका सम्वेदन है अर्थात् शब्दसे अन्यापोहका ज्ञान होता है और वह अन्यापोह सामान्य विषयरूप है और वह सामान्य विषय लिङ्गरूप है, अनुमानरूप है, जो सामान्यके द्वारा जनित हो वह अनुमान भी सामान्य है क्योंकि अनुमान करनेमें भेदको ही साध्य

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

बताया जाता है, जैसे अग्निको साध्य बनाया तो अनुमानसे अग्निको साध्य तो बनाया पर जो अग्निका स्वलक्षण है, अग्निका जो क्षणिक स्वरूप है उसका ग्रहण नहीं होता, अतएव लिङ्ग भी सामान्य रहा, साध्य भी सामान्य रहा, अनुमान भी सामान्य रहा, स्पष्ट न रहा। यह कथन क्षणिकवादियोंका यों निराकृत हो जाता है कि वस्तुमें अनुवृत्तिरूप प्रत्यय भी पाया जाता है। जैसे यह मनुष्य है, यह मनुष्य है, अनेक मनुष्योंमें मनुष्यत्व सामान्यकी अनुवृत्ति अथवा एक ही जीवकी भूत भविष्यकी पर्यायोंमें यह वही आत्मा है इस प्रकार सामान्की अनुवृत्ति भी सिद्ध है। तो यह भी कहा जा सकता है कि तद्रूपसे अनुवृत्ति होना यही वस्तु मात्र है। जैसे क्षणिकवादी कहते हैं कि अन्य पदार्थका अपोह होना, अन्यका अभाव होना यही वस्तुमात्र है सो यह भी तो उसमें दिखता है कि अपने तत्वकी अनुवृत्ति होना स्वरूपमात्र पाया जाना यह वस्तुमात्र है, और, ऐसा वस्तुमात्र स्वरूप निर्बाध ज्ञानमें बराबर विषय बन रहा है। तब भेद मात्र की प्रतिष्ठा ही नहीं होती। केवल विशेष ही तत्त्व है यह निराकृत हो जाता है। अन्यापोहकी फिर यहाँ प्रतिष्ठा नहीं रहती। तो एकान्त करना कि अभेद है ही नहीं, समस्त पदार्थ सर्वथा भिन्न–भिन्न हैं और वस्तु अन्यापोह मात्र है सो बात नहीं बनती। वस्तु भेदाभेदात्मक है अन्यके अपोहरूप भी है और अपने स्वरूपकी अनुवृत्तिरूप भी है। यों स्याद्वादका आश्रय करके भट्ट वस्तुको भेदाभेदात्मक मानकर भेदके साथ अभेद की भी सिद्धि कर रहे हैं। तो यों यदि अन्यापोह करके वस्तुको केवल भेदरूप माना जाय तो अनुवृत्ति देखकर वस्तुको अभेदरूप भी देखा जा सकता है, क्योंकि सदाकाल वस्तु बाहर और अन्दरमें भेदाभेदात्मक ही प्रतिभासमान होती है। बाहरके घटपट आदिक वस्तु सामान्य विशेषात्मक हैं। तो यों समग्र वस्तुएँ चाहे अन्तरङ्ग वस्तुवें हों अथवा वहिरङ्ग हों, भेदाभेदात्मक ही सिद्ध होती हैं।

भेद व अभेदकी वास्तविकी व्यवस्थाका कथन—यहाँ यदि क्षणिकवादी यह सन्देह करे कि अभेद केवल विवक्षाके वश ही जाना जाता है तो उसी तरह भेद भी विवक्षाके वशवर्ती हो जायगा। सो यों भेद और अभेद केवल विवक्षामात्रके आधीन नहीं है, क्योंकि केवल विवक्षासे भेद और अभेद माननेपर तो संकर हो जायगा अर्थात् जो भिन्न हैं उनके साथ अभेद होना पड़ेगा। जो अभिन्न हैं उनमें परस्पर भेद हो जायगा। जिस स्वरूपसे भेद व्यवस्था है उस स्वरूपसे तो अभेद व्यवस्था हो जायगी। और जिस स्वरूपसे अभेद व्यवस्था है उस स्वरूपसे भेद व्यवस्था हो जायगी, क्योंकि जब भेद और अभेद विवक्षाके ही आधीन मान लिया है तो विवक्षा तो निरंकुश है। यह तो जानने, समझने, बोलने वालेकी इच्छाकी बात है। जैसा मन किया वैसा पदार्थ को बनना पड़ा। तो पदार्थ व्यवस्था केवल विवक्षासे तो नहीं बनती। जिस वस्तुमें जो धर्म है भेदरूपसे अभेदरूपसे वह वहाँ है। जैसे कि एक आत्मसामान्य है। आत्म सामान्यमें जब भेददृष्टिसे देखते हैं तो ज्ञान, दर्शन, चारित्र आदिक गुण भी ज्ञानमें आते हैं। उस एक आत्माको जब भेददृष्टिसे देखा तो ज्ञान, दर्शन, आनन्द आदिक गुण

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

नजर आये। तो भेद दृष्टिसे नजर आया, इसके मायने यह नहीं है कि कथनमात्र है, किंतु इस तरहका स्वरूप आत्मामें पाया जाता है, जो भेद दृष्टिमें आता है। यदि भेद करनेकी बात केवल विवक्षासे या मन-पसंदगीसे ही हो तब तो पुद्गलमें ज्ञान दर्शन गुण मान लिया जाय, जहाँ चाहे जो लगा दिया जाय, सो यों तो नहीं है। वस्तु एक है, विशिष्ट अद्वैत है, अपने लक्षणमात्र है, अव्यक्त है। फिर भी जब उसको हम कहना चाहते हैं तो किन्हीं विशेषणोंसे ही कह पाते हैं और विशेषण होते हैं भेदरूप। तो इस प्रकार भेद और अभेदकी व्यवस्था केवल विवक्षामात्रके वशसे नहीं है, किन्तु उस तरहकी बात जब पदार्थमें विदित होती है तब यह व्यवस्था बनती है।

किसी भी कारणसे विवक्षाका प्रतिनियम न बननेसे विवक्षाकी निरंकुशता—यहाँ क्षणिकवादी कहते हैं कि अभेदसमर्थकोंका यह कहना कि विवक्षा निरंकुश हो जाती है सो बात अयुक्त है, विवक्षामें निरंकुशता न बनेगी। विवक्षामें नियम है, वह नियमपूर्व वासनाके प्रतिनियमके कारण है अर्थात् जो ज्ञान जानता है ज्ञानमें ज्ञानको अपनेसे पूर्व समयमें हुए ज्ञानमें जो बात थी उसकी वासना इस ज्ञानमें आई और उस पूर्व वासनाके प्रतिनियमसे विवक्षाका भी प्रतिनियम बनता है। तो जैसी जैसी पूर्ववासना है वैसा ही विवक्षाका प्रतिनियम है। विवक्षा भी उस ही प्रकार बनती है इस कारण विवक्षाके वशसे भेद और अभेदकी व्यवस्था माननेपर संकर दोष आगया, सो यह दोष नहीं आता। इसपर भट्ट उत्तर देते हैं कि उस विवक्षामें पूर्व वासनाका प्रतिनियम कैसे बना? उसका हेतु तो बताओ! जैसे विवक्षा निरंकुश है और विवक्षामें निरंकुशताको दूर करनेके लिए पूर्ववासनाकी बात बतायी तो यों पूर्व वासना भी निरंकुश कैसे न होगी? कैसे पूर्ववासनाका प्रतिनियम बनेगा? यदि यह कहो कि जो प्रबोधक ज्ञान है, प्रकट निर्विकल्प ज्ञानका प्रतिनियम है उससे पूर्ववासना का प्रतिनियम बनता है। पूर्ववासनाकी वासना ही तो उत्तर ज्ञान बना। तो जो वस्तु ज्ञान बना उस ज्ञानका होना ही पूर्ववासनाको सिद्ध करता है। तो प्रबोधकज्ञान के प्रतिनियम होनेसे पूर्ववासनाका प्रतिनियम सिद्ध होता है। यदि ऐसा कहोगे तो वह भी युक्तिसंगत नहीं है, क्योंकि प्रबोधक ज्ञानमें पूर्ववासनाका भी नियम नहीं बनता। सो जब प्रबधक ज्ञान ही स्वयं अनियमित हो गया तो उसके नियमसे पूर्ववासनाका नियम कैसे बन सकता है? और फिर जब वर्तमान प्रबधक ज्ञानका नियम न बना और पूर्ववासनाका नियम न बना तब तो विवक्षा निरंकुश ही सिद्ध हुई अर्थात् विवक्षा से यदि वस्तुमें भेद अभेदकी व्यवस्था बनायी जाती है तो वह अटपट व्यवस्था बन जायगी। जिस स्वरूपसे भेद व्यवस्था बनाई जा रही है उस हीसे अभेद व्यवस्था बन बैठे। यों सांकर्य हो जाता है। पूर्ववासनाका प्रतिनियम न रहा तो प्रबंधक प्रत्ययका भी प्रतिनियम न रहा।

वासनासन्तानका प्रतिनियम सिद्ध न होनेसे अभेदव्यवस्थाको अवा-

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

स्तविकी कहनेका निराकरण—यहाँ सौगत कहते हैं कि जो वर्तमान वासनाका नियम है, प्रकृतमें जो वासना बन रही हैं उसका नियम पूर्व स्वासनाके प्रतिनियमसे बनता है। उत्तरमें भट्ट कहते हैं कि यह कहना भी अयुक्त है– बतलाओ कि वासना का सम्वेदनके साथ मेल है या नहीं ? जो वासना बता रहे हो उस वासनाका निर्विकल्प ज्ञानके साथ मेल है अथवा नहीं ? अर्थात् उसमें ज्ञान अव्यभिचरित है या व्यभिचरित है ? यदि कहो कि वासनामें सम्वेदनपना मौजूद है तब फिर वासना ही वस्तुस्वभाव बन गई, क्योंकि वस्तु मानी गई है सम्वेदन मात्र और वासनामें सम्वेदन स्वरूपका मेल है अव्यभिचार है तो वासना अब वस्तुस्वरूप हो गई। जो जिससे अभिन्न है वह तदात्मक होती। यहाँ वासनाको मान रहे हो सम्वेदनात्मक, उसके साथ ज्ञानका अव्यभिचार है तो जब वासना वस्तुस्वरूप हो गयी तो क्षणिकवादका खण्डन हो गया। वासनामें वस्तुस्वभावताकी आपत्ति हो गई और यदि कहो कि वह वासना ज्ञानसे मेल नहीं करती तो भेद और अभेदकी व्यवस्था होने भी व्यभिचारका प्रसंग होगा फिर उनमें संकरताका दोष कैसे न आयगा ? इस तरह बहुत दूर चल करके भी जो वस्तुस्वभावके अवलम्बनसे ही व्यभिचारका परिहार करना चाहते हैं उनको भेद और अभेद वस्तुस्वभावरूप ही मानना चाहिए। अर्थात् विशेष और सामान्य ये वास्तविक हैं ऐसा माने बिना सम्वित् सामान्य अथवा सम्वित् विशेषकी व्यवस्था नहीबन सकती जब बाह्य वस्तुके स्वभावके अवलम्बनसे ही सांकर्य दोषका परिहार होता है तो जो अभिन्न समस्त पदार्थोंमें साधारणरूपसे रहने वाला वस्तुस्वरूप है बस वही सामान्य है यह सिद्ध होता है, अर्थात् जो समस्त पदार्थोंमें साधारण रूपसे रहे उसे सामान्य कहते हैं और यह वस्तुभूत है। किन्तु विकल्प बुद्धिसे ग्रहण किया गया अर्थात् सामान्य नहीं है इस तरहकी विकल्प बुद्धिसे ग्रहण किया गया है अन्यापोहमात्र वस्तुभूत नहीं है। ऐसा अन्यापोह तो अवस्तु मात्र है अर्थात् जैसे घड़ा यह शब्द बोला, अब इस शब्दको सुनकर अन्य कुछ नहीं है, अघट नहीं है इस प्रकारकी बुद्धिमें आया हुआ केवल अन्यापोह मानना यह तो अवस्तुभूत है। घटका स्वत्व तो जानना स्वरूप चतुष्टयसे घट है उसे तो न मानना कि घट कहकर अन्य कुछ नहीं है इतना भर ही समझना यह तो ज्ञान और व्यवहार प्रतीतिके विरुद्ध है। तो यहाँ तक यह सिद्ध हुआ कि सामान्य विशेषमें व्यापी होता है तो करोति सामान्य यज्यादिक विशेषमें व्यापी है इस कारण वह वास्तविक कैसे न होगा। सो सामान्यके उपलम्भ होनेपर भी विशेषमें संदेह होता है। जैसे करोति सामान्यका तो ज्ञान किया कि देवदत्त करता है तो उस सामान्यके उपलम्भ होनेपर भी करता है यह देवदत्त कुछ, इतना परिज्ञान होनेपर भी विशेषमें संदेह होता है कि क्या करता है ? क्या पूजा करता है ? तथा यह भी समझिये कि स्मृतिके विषय भूत विशेषके अनुपलम्भ होनेपर भी संदेह नहीं होता।

विशेषोंसे भिन्न किसी सामान्यका सत्व न होनेसे यज्यादि क्रियाविशेषों से भिन्न किसी करोतिका सत्त्व न होनेके कारण संदेहके अनवसरका क्षणिक-

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

वादियोंका प्रश्न—अब यहाँ क्षणिकवादी कह रहे हैं कि देखिये स्थाणु और पुरुष इससे भिन्न अन्य कुछ ऊर्ध्वता सामान्य कहना वास्तविक नहीं है। जैसे कोई मनुष्य झुलपुटे उजेलेमें जब की कुछ अंधेरा और उजेला हो ऐसे प्रभातमें बहुत दूर नई जगह घूमने गया। उसने बहुत दूरसे देखा कि एक दो ढाई गज ऊँचा कुछ मोटा पदार्थ है। था वह वृक्षका ठूठ लेकिन वह पुरुष उस ठूठको देखकर यह संदेह करता है कि यह ठूंठ है या पुरुष है तो उस सम्बन्धमें क्षणिकवादी यह कह रहे हैं कि संशयका हेतु यह बताना कि सामान्यकी उपलब्धि हो विशेषकी अनुपलब्धि हो और विशेष स्मृति हो तो होता है, तो ये तीन बातें ठीक नहीं है क्योंकि सामान्य तो अवस्तु है। इस संशयके प्रसंगमें ठूंठ और पुरुष इन दोको छोड़कर और ऊर्ध्वता सामान्य क्या है? ऊँचा क्या है? ऊँचापन होना, मोटापन होना, यहाँ स्थाणु और पुरुष इन दो के अतिरिक्त और कुछ तो नहीं है। तो जैसे स्थाणु और पुरुषके सम्बन्धमें अन्य ऊर्ध्वता सामान्य वास्तविक नहीं है इसी प्रकार यजते पचति यों यज्यादि विशेषसे भिन्न करोति सामान्य कोई वास्तविक नहीं क्योंकि बुद्धिका अभेद होनेसे बुद्धि भेदके बिना पदार्थ भेदकी व्यवस्था नहीं होती। यदि बुद्धिमें भेद आये बिना भी पदार्थमें भिन्नताकी व्यवस्था बना जाय तो इसमें बड़ा दोष होगा। एक घट ज्ञानके द्वारा अन्य पदार्थका भी ज्ञान हो बैठे अथवा एक घट ज्ञानके द्वारा समस्त घटोंकी प्रतीति हो बैठे क्योंकि अब तो यह मान लिया कि बुद्धिके अभेद होनेपर भी याने बुद्धि भेदके बिना भी पदार्थ भेदकी व्यवस्था बन जाती है तो चूंकि बुद्धि भेदके बिना पदार्थ भेदकी व्यवस्था नहीं बनती तो इस तरह सामान्यमें बुद्धिभेद न होनेसे सामान्य और विशेष ये भिन्न पदार्थ हुए ऐसी व्यवस्था नहीं बन सकती क्योंकि करोति तो सामान्यका ग्रहण करने वाली क्रिया है और यज्यादि विशेषको ग्रहण करने वाली क्रिया है। इस प्रकारसे बुद्धि भिन्नरूप नहीं बनती। इसी बातको क्षणिकवाद सिद्धान्तमें कहा भी है कि बुद्धिका अभेद होनेसे अर्थात् यह तो सामान्यको ग्रहण करने वाली बुद्धि है और यह विशेषको ग्रहण करने वाली बुद्धि है, इस प्रकारसे भेदमें भेदका अभाव होनेसे भेदसे भिन्न (विशेषसे भिन्न) कोई अन्य सामान्य नहीं है क्यों बुद्धयाकारके भेदसे ही पदार्थमें विभिन्नता मानी जा सकती है। यह घड़ा यह कपड़ा है यह भेद कैसे बना कि ज्ञानमें भिन्न-भिन्न आकार रूपसे दोनोंका प्रतिभासन हो रहा है। तो यहाँ करोति सामान्यको ग्रहण करने वाली यह बुद्धि है, यज्यादि विशेषको ग्रहण करने वाली यह बुद्धि है, इस प्रकारका भेद न होनेसे सामान्य कुछ भी अन्य चीज नहीं है।

अनुगताकार प्रत्ययसे सामान्यकी सिद्धि होनेसे संदेहके अवसरकी व्यवस्थितता—क्षणिकवादी सौगतके उक्त कथनपर भट्ट उत्तर देते हैं कि यह कथन असत्य है। क्षणिकवादका यह कथन क्यों असत्य है? यों कि सामान्य और विशेषमें बुद्धिभेद सिद्ध है, क्योंकि सामान्य बुद्धि तो अनुगताकार होती है यह सत् है, यह सत् है इस प्रकारसे अनुगत आकार जहाँ पाया जाता है वह तो है सामान्य बुद्धि। जैन

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

अनेक मनुष्योंमें यह मनुष्य है, यह मनुष्य है इस प्रकार अनुगताकार वाला जो प्रतिभास है वही तो सामान्य सामान्य है। तो सामान्यबुद्धि तो अनुगताकारहोती है और विशेषबुद्धि व्यावृत्ताकार होती है। यह वह नही है इस प्रकार अन्यके परिहारपूर्वक जो बुद्धि चलती है वह विशेष बुद्धि होती है। और, स्पष्ट परख लीजिये कि कभी सामान्य बुद्धि और कभी विशेष बुद्धिकी मुख्यतासे ज्ञान होता है। दूरसे ऊर्ध्वता सामान्यसे ही प्रतिभास होता है। स्थाणु या पुरुष ऐसा विशेष प्रतिभासमें नही आता, उस प्रभात कालीन मंदप्रकाशमें इस घूमने वालेने जो कुछ देखा कि यह ठूठ है अथवा पुरुष है? इस प्रकारका संदेह बनता है तो उस घटनामें प्रतिभास हुआ क्या? ऊर्ध्वता सामान्य। जो बात ठूठमें भी पाई जा सकती, पुरुषमें भी पाई जा सकती ऐसे धर्मका ज्ञान हुआ है। इतनी ऊँचाई, इतनी मोटाई जो बात दोनोंमें सम्भव है ऐसी बुद्धि उत्पन्न हुई है तो दूरसे ऊर्ध्वता सामान्य ही प्रतिभासमें आया तभी वहां सन्देह बना। अब यहाँ कोई ऐसा सन्देह करे कि दूरसे ऊर्ध्वता सामान्यका प्रतिभास न हुआ है तो इतने मात्रसे उस सामान्यबुद्धिका विशेष बुद्धिसे यह व्यतिरिक्त है ऐसा परिज्ञान कैसे बनेगा? तो सुनो कि स्थाणु पुरुष विशेषके परिहारपूर्वक जो सामान्यका प्रतिभासन हुआ है वही विशेषसे व्यतिरिक्त सामान्यका प्रतिभासन है व्यतिरेकका इतना ही मात्र लक्षण है कि विशेषके परिहारसे अन्यका प्रतिभास हो जाता सो यह बात इस ऊर्ध्वता सामान्यके प्रतिभासमें हो रहा है कि वहां इस ठूठ और पुरुष विशेषका परिज्ञान नही है सो उस विशेष बुद्धिसे यह सामान्य बुद्धि भिन्न है।

निकटमें सामान्य प्रतिभास न होना कहकर सामान्यकी असिद्धि माननेपर दूसरे विशेष प्रतिभास न होना कहकर विशेषकी भी असिद्धिका प्रसंग—क्षणिकवादी आचार्य इस प्रसंगमें पूछते हैं कि यदि स्थाणु और पुरुषसे भिन्न कोई सामान्य है तो वह सामान्य जैसा बहुत दूरसे प्रतिभासमें आ रहा है वह कुछ दूर रह जानेपर क्यों नही प्रतिभासमें आता, या दूरसे प्रतिभासमान जो सामान्य है उसके निकट आनेपर सामान्यका प्रतिभास क्यों नही होता? क्षणिकवादियोंके इस कथनका यह तात्पर्य है कि यदि सामान्य कोई वास्तविक चीज हो, तो जब कभी बहुत दूरसे ठूठ और पुरुष विषयक सामान्यका बोध हो रहा है वह बोध, वह सामान्य यदि वास्तविक है तो उसके जब बहुत पास पहुंच जाता है तब कुछ नही वह प्रतिभासमें आता। वहाँ फिर ठूठ और पुरुष ये दोनों विशेष स्पष्ट स्पष्टरीतिसे क्यों समझमें आ रहे हैं? इससे सिद्ध है कि सामान्य कोई वस्तु नही है वस्तु तो स्वलक्षण मात्र है। इसपर भट्ट कहते हैं कि यह कथन तो विशेषमें भी घटाया जा सकता है। जो आक्षेप सामान्यके निराकरणके लिए किए जा रहे हैं वे ही आक्षेप विशेषके निराकरणमें भी घटित होते हैं। अच्छा बताओ—यदि विशेष वस्तुभूत है और सामान्यसे भिन्न है तो दूरसे वस्तुका जैसा सामान्य स्वरूप प्रतिभासमान होता है तो विशेष क्यों नही प्रतिभासित हो जाता? जैसे कि आक्षेपमें कहा था कि ठूठ और पुरुष इन विशेषोंसे निराला यदि कोई ऊर्ध्वता

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

सामान्य ऊँचाई कोई वस्तुभूत है तो तब उसके निकट प्रतिपत्ता पहुँच जाता है तो फिर वह सामान्य क्यों नहीं प्रतिभासमें आता ? वहाँ स्पष्ट विशेष ही क्यों समझमें आता है। ऐसे ही यहाँ भी कहा जा सकता है कि यदि सामान्यसे भिन्न कोई विशेष वस्तुभूत हो तो जैसे यह विशेष निकटमें रहनेपर स्पष्ट प्रतिभासमें आता है तो बहुत दूरसे क्यों नहीं, ऐसा स्पष्ट प्रतिभासमें आता है। जो बात यहाँपर है उसकी वह बात जो उसके ज्ञानके साथ-साथ ज्ञात होती ही है। जैसे इन्द्रधनुषमें नील पीला आदिक अनेक रंग हैं तो वहाँ जब नीलरूप ज्ञानमें आ रहा है तो क्या दूरसे पीतरूप ज्ञानमें न आयगा ? जैसे बहुत दूरसे इन्द्र धनुषका नीलाकार प्रतिभासमें आ रहा उस ही इन्द्र-धनुषमें जब पीला रंग भी वस्तुभूत है तो वह भी तो प्रतिभासमें आ रहा है। तो जो जहाँ चीजें होती हैं वे सब ज्ञानमें जाती हैं। तो जब दूरसे हम उस ठूठ और पुरुषके संशयके साधनभूत पदार्थको देखते हैं तो केवल ऊर्ध्वता सामान्य नजर आता। विशेष वस्तुभूत होता तो उसके साथ ही दूरसे विशेष क्यों नहीं प्रतिभासमें आ जाता ?

विशेष प्रतिभासकी जनिका निकट देश सामग्री न होनेसे विशेष प्रतिभासका अभाव बताकर पूर्व शंकाका समर्थन और उसका समाधान करते हुए सर्वत्र सामान्य व विशेष प्रतिभासका साधन—अब विशेषवादी सौगत कहते हैं कि विशेष प्रतिभासकी जनक निकट देश सामग्री है अर्थात् कोई पदार्थ जो कि वस्तुभूत विशेष है उसका परिज्ञान उत्पन्न करने वाली सामग्री प्रतिपत्ताका निकट देशमें पहुँच जाता है। तो विशेष प्रतिभासकी जनिका निकटदेश सामग्री है, स कारण दूर देशमें रहने वाले जीवोंको विशेषका प्रतिभासन नहीं होता है। विशेषवादीके ऐसे कहनेपर उत्तरमें भट्ट जन भी यह कह सकते हैं कि सामान्य प्रतिभासको उत्पन्न करने वाली दूर देश सामग्री है, अर्थात् दूरसे निरखनेपर सामान्यका प्रतिभास होता है और इसी कारण निकट देशमें रहने वाले पुरुषोंको वह सामान्य प्रतिभास नहीं रहता है। इस प्रकार समाधान देना समान बन जाता है। और, देखिये कि जो पहिले ऊर्द्धवाकार सामान्यका प्रतिभास हुआ था वह उद्धवताका प्रतिभास निकट पहुँचनेपर भी है और उस ऊर्द्धवाकार सामान्यका प्रतिभास स्पष्ट हो रहा है निकट पहुँचनेपर भी विशेष प्रतिभासकी तरह। जैसे निकट पहुँचनेपर यह पुरुष नहीं है, किन्तु ठूठ है ऐसा विशेष प्रतिभास स्पष्ट हो रहा है इसी प्रकार उससे ऊर्द्धताकार रूप सामान्यका प्रतिभास भी स्पष्ट हो रहा है। जैसे कि दूरमें उस ऊर्द्धताकारका अस्पष्ट प्रतिभासन था उस प्रकार का अस्पष्ट प्रतिभास निकट पहुंचनेपर नहीं है। जिस पुरुषने दूरसे उस पदार्थको देखा था उस पुरुषका ऊर्द्धवताकार ज्ञानमें आ रहा था, पर वह अस्पष्टरूपसे। अब निकट पहुँचनेपर उसी ऊर्द्धवताकार सामान्यका स्पष्ट प्रतिभास हो रहा है जैसे कि निकट पहुँचनेपर विशेषका प्रतिभास स्पष्ट हो रहा है। और, जैसे कि विशेष दूरसे अस्पष्ट प्रतिभासमें आ रहा है उस प्रकार निकट पहुंचनेपर अस्पष्ट प्रतिभासमें नहीं आता किन्तु स्पष्ट ही प्रतिभास होता है। हुआ क्या वहाँ कि अस्पष्ट प्रतिभासनकी जो

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

सामग्री है वह अब न रही, अस्पष्ट प्रतिभासकी सामग्री है दूर देशमें रहना सो निकट पहुँचनेपर न तो सामान्यका भी अस्पष्ट प्रतिभास है और न विशेषका भी अस्पष्ट प्रतिभास है। तो वह सामान्य जो दूरसे अस्पष्ट ज्ञानमें आ रहा वह स्पष्ट हो गया और विशेष भी संशयरूपसे जो ज्ञानमें आ रहा था अस्पष्ट वह भी स्पष्ट हो गया। यों सामान्य और विशेष दोनों विषयभूत हैं और वे दोनोंके दोनों सदैव हैं चाहे दूरसे उनका ज्ञान किया जाय अथवा निकटसे।

दूर और निकटमें सामान्यके अस्पष्ट और स्पष्ट प्रतिभासकी सिद्धि तथ दूर और निकटमें विशेके अस्पष्ट और स्पष्ट प्रतिभासकी सिद्धि—जब कि सामान्य और विशेष दोनोंका दूरसे अस्पष्ट रूपसे प्रतिभासन हो सकता है और दोनोंका निकटसे स्पष्टरूपसे प्रतिभासन हो सकता है इस कारण सामान्यके प्रतिभास में अस्पष्ट प्रतिभासका व्यवहार नहीं हो सकता है। जैसे विशेषका प्रतिभास स्पष्ट प्रतिभास है इसी प्रकार सामान्यका भी प्रतिभास सामान्य प्रतिभासके सम्बन्धमें स्पष्ट प्रतिभास है। और, जब कभी अस्पष्ट प्रतिभास होता है तब सामान्यमें अथवा विशेष में दोनोंके ही पतिभासमें अस्पष्ट व्यवहार भी देखा जाता है। कहीं अप्रतिभासिता अर्थात् कुछ प्रतिभासमें नही आता या अन्तप्रतिभासिता अर्थात् सामान्य और विशेषके बीचमें किसी एकका प्रतिभास होना इसका नाम किसीकी अस्पष्ट प्रतिभासिता नही है अर्थात् कुछ प्रतिभासमें नही आया अथवा उन दोनोंमेंसे, सामान्य विशेषमेंसे किसी एकका ही प्रतिभास हुआ तो इसके मायने अस्पष्ट प्रतिभासिता कही है। तब फिर अस्पष्टताका अर्थ क्या है सो सुनो। किसी भी दृष्ट कारणसे अथवा अदृष्ट कारणसे अस्पष्ट ज्ञानकी उत्पत्ति होना पदार्थोंकी अस्पष्टता होना कहलाता है, क्योंकि यहाँ विषयी के (ज्ञानके) धर्मका विषयोंमें (ज्ञेयोंमें) उपचार किया है। अस्पष्टताके कारणसे पदार्थोंमें अस्पष्टताकी बात कही गई कि यह पदार्थ अस्पष्ट है अर्थात् ज्ञानके धर्मका विषयोंमें (ज्ञेय पदार्थोंमें) उपचार किया गया है। असलमें तो स्पष्टता और अस्पष्टता ज्ञानमें होती है और वह होता है देश काल आदिक दृष्ट कारणोंसे और मतज्ञानावरण का क्षयोपशम विशेषरूप अदृष्ट कारणसे। सो स्पष्टता है ज्ञानका धर्म लेकिन जिस ज्ञेय पदार्थके सम्बन्धमें अस्पष्ट ज्ञान हुआ है उन ज्ञेयोंको भी अस्पष्ट कहना यह उपचारसे कहा जाता है। वस्तुतः तो अस्पष्टता ज्ञान भी ही धर्म है, जैसे कि स्पष्टता ज्ञानका धर्म है। अब उस अस्पष्टताको जो विषय धर्म कहा जाता है सो उपचारसे कहा जाता है। यदि वस्तुतः अस्पष्टताको विषयका धर्म मान लिया जाय तो सदा ही अस्पष्टताका प्रतिभास होना चाहिए। अर्थात् जैसे प्रकाशकी अवस्थामें कुछ प्रतिभास होता है, उसी प्रकार अत्यन्त अंधकारकी अवस्थामें भी प्रतिभास हो जाना चाहिए। और जब स्पष्टता और अस्पष्टता विषयका धर्म मान लिया जाता है तब फिर कभी भी प्रतिभासकी निवृत्ति नही हो सकती, क्योंकि पदार्थ सदा है और पदार्थका ही धर्म स्पष्टता अथवा अस्पष्टता है। किसी भी रूपका प्रतिभास है। तो पदार्थका धर्म होने से फिर वह सदा

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

प्रतिभासना चाहिए। कभी प्रतिभासकी निवृत्ति ही न हो सकेगी, इससे सिद्ध है कि स्पष्ट और अस्पष्ट होना यह ज्ञानका धर्म है और ऐसा सम्वेदन याने अस्पष्ट सम्वेदन विषयरहित नही होता अर्थात् किसी न किसी पदार्थके विषयमें ही तो वह अस्पष्ट सम्वेदन हुआ है। तो सम्वेदन निर्विषय नही होता है क्योंकि सम्वादक होनेसे स्पष्ट संवेदनकी तरह। जैसे स्पष्ट सम्वेदन सत्य है उसी प्रकार अस्पष्ट सम्वेदन भी सत्य है। दूरसे सामान्य प्रतिभासमें आया, अस्पष्टरूपसे आया पर हुआ तो उसका प्रतिभास, अब निकटमें सामान्यका स्पष्ट प्रतिभास हो गया। जैसे कि स्पष्ट सम्वेदन याने बौद्ध सिद्धान्तसे निर्विकल्प ज्ञान वह निर्विषय नही माना गया सम्वादक होनेसे, उसी प्रकार अस्पष्ट सम्वेदन भी निर्विषय नही होता।

अस्पष्ट ज्ञानमें क्वचित् विसंवाद होनेसे अथवा क्षणिकवादमें अस्पष्ट ज्ञानको अतदाकार बुद्धि कहनेसे अस्पष्ट प्रतिभासको अप्रमाण माननेकी अशक्यताका कथन —यदि कोई शंका करे कि अस्पष्ट ज्ञानमें कभी कभी विसम्वाद देखा जाता है, उसमें सन्देह भी पाया जाता है तो तो विसम्वाद देखा जानेसे अस्पष्ट ज्ञान अप्रमाण है। तो इसका उत्तर यह है कि यों तो स्पष्ट सम्वेदनमें भी कभी कभी विसम्वाद देखा जाता है तो सभी स्पष्ट सम्वेदनोंमें विसम्वाद मान लया जाना चाहिए तो चाहे स्पष्ट सम्वेदन हो अथवा अस्पष्ट सम्वेदन हो, जहाँ बाधा आ सकती है अन्य प्रमाणोंसे वहाँ बाधा है, जहाँ नही आ सकती वहाँ बाधा नही है। तो अस्पष्ट भी सविषय होता है। इस कारण क्षणिकवादियोंका यह कहना समीचीन नही है कि पदार्थसे तदाकार बुद्धि ही उत्पन्न होती है, सो जब कभी पदार्थसे अतदाकार बुद्धि ही उत्पन्न हो जाय तो उस समय उसमें अस्पष्ट प्रतिभासका व्यवहार करते हैं। क्षणिकवादके सिद्धान्तमें जो स्पष्ट ज्ञान होता है, निर्विकल्प ज्ञान और वह पदार्थसे उत्पन्न होता है सो वह तदाकार है। इससे विरुद्ध जब कभी अतदाकार बुद्धि हो जाय उस वस्तुमें वैसा स्वलक्षण तो है नही जैसा कि सविकल्प ज्ञानने जाना है तो विषय उसमें समुचित नही आया अतएव उस ज्ञानको अस्पष्ट प्रतिभास कहेंगे, ऐसा क्षणिकवादियों का कहना समीचीन नही है, क्योंकि अतदाकार बुद्धिको अस्पष्ट प्रतिभास माननेपर फिर किसी जन्मसे ही इस प्रकारके तिमिर रोग वालेको दो चन्द्रमा दिखते हैं। तो दिखते तो बिल्कुल स्पस्ट हैं लेकिन है अतदाकार। दो जगह चन्द्र तो नही है। तो जैसे पदार्थ नही है दीखा तो उस तरह लेकिन दीखा स्पष्ट तब उसमें भी अस्पष्ट प्रतिभास का व्यवहार होना चाहिए। इसपर यदि क्षणिकवादी यह शंका करें कि फिर तो मीमांसकोंके भेद अथवा अभेद होनेपर भी यह दूषण समान आता है तब क्या समाधान होगा? इस पर उत्तर सुनो मीमांसकोंके सिद्धान्तमें सामान्य विशेषोंसे सर्वथा भिन्न ही अथवा अभिन्न ही नही है। सामान्य कथंचित विशेषोंसे भिन्न अथवा अभिन्न रूपसे प्रतीत होता है। सामान्य विशेषात्मक जात्यंतर स्वरूप याने उभयात्मक वस्तुके प्रमाण सिद्ध होनेपर उस वस्तुके ग्रहण करने वाले ज्ञानमें सामान्य विशेषात्मकताकी

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

उत्पत्ति है, अर्थात् जब वस्तु सामान्यविशेषात्मक है तो उसको ग्रहण करने वाला ज्ञान भी सामान्य विशेषात्मक होता है। इस कारण कोई भी बुद्धि सर्वथा सामान्याकार नही होती और न सर्वथा सामान्याकार ही होती और न सर्वथा विशेषाकार भी होती, क्योंकि बुद्धि सदा उभयाकार ही प्रतीत होती है। ज्ञानमें जो वस्तु प्रतिभासमें आती है वह वस्तु सामान्यविशेषात्मक है, तो उसका यह प्रतिभास भी सामान्यविशेषात्मक है।

निश्चयतः ज्ञानमें आकारका व अर्थाकारका अभाव —यहाँ यह नही कह सकते कि बुद्धि अर्थाकार ही होती है। बुद्धि तो वस्तुतः निराकार है, किन्तु उस बुद्धि में जो आकार प्रतिभासमान हुआ है वह आकार पदार्थका धर्म है न कि ज्ञानका धर्म है। जैसे कोई वस्तु दो फिट लम्बी चौड़ी है, और इस आकार रूपसे ज्ञान हुआ तो इसका अर्थ यह नहीं कि वह ज्ञानका आकार है या ज्ञान पदार्थके आकाररूप बन गया ? ज्ञान तो निराकार है वह तो जाननमात्र है, पर ज्ञानमें जो आकार आया वह आकार पदार्थका है। आकार पदार्थके धर्म हुआ करते हैं। ज्ञानका आकार तो केवल जानन प्रतिभासन पदार्थके ग्रहणको ही कहते हैं। ज्ञानने जो पदार्थको जाना है उस जाननको तो हम ज्ञेयाकार परिणमन कहते हैं। कहीं उस परिणमनमें जैसे–कि दो फिट लम्बा चौड़ा पदार्थ है ऐसे ही ज्ञान भी दो फिट लम्बा चौड़ा हो सो बात नहीं, केवल पदार्थ के जाननेका ही नाम विकल्प है और उस ही को आकार कहते हैं। निश्चयतः ज्ञान तो निराकार है।

प्रतिनियत सामग्रीसे ही ज्ञानमें प्रतिनियत प्रतिकर्मव्यवस्था – ज्ञानकी निराकारता सिद्ध होनेपर कभी यह सन्देह न करें कि जब ज्ञान निराकार है तो ज्ञान में जाननेकी व्यवस्था भंग हो जायगी। कभी क्षणिकवादी ऐसा सोचें कि यदि यह ज्ञान पदार्थको जानता है पदार्थसे उत्पन्न न होकर व अर्थाकार न बनकर यह व्यवस्था कैसे हो कि यह ज्ञान इस पदार्थका जानने वाला है, क्षणिकवादमें तो वह ज्ञान पदार्थ से उत्पन्न हुआ है। सो जो ज्ञान जिस पदार्थसे उत्पन्न हुआ जिस पदार्थके आकार बना वह ज्ञान उस पदार्थका ज्ञाता कहलाता है। अब मान लिया गया ज्ञानको निराकार तो ज्ञानमें ऐसे प्रतिकर्मकी व्यवस्था कैसे बने कि यह ज्ञान इसका ही जानने वाला है, इसमें विरोध आ जायगा ऐसा सन्देह न करना चाहिए। ज्ञानके निराकार होने पर भी प्रतिनियत व्यवस्था विरुद्ध नही बैठती है, क्योंकि प्रतिनियत सामग्रीसे प्रतिनियत पदार्थ का ग्रहण होने रूपसे ज्ञानकी उत्पत्ति होती है। यहाँ क्षणिकवादी ऐसी शंका कर रहे थे कि जब ज्ञान पदार्थसे उत्पन्न हो, और पदार्थके आकार हो तब तो यह व्यवस्था बन सकती है कि इस ज्ञानने इस पदार्थको की ही जाना, किन्तु जब निराकार मान लिया जाय ज्ञानको तो अर्थाकारताके अभावमें ज्ञानमें यह व्यवस्था कैसे बने कि यह ज्ञान इस पदार्थको ही जानने वाला है अन्यको नहीं ? इसपर भट्ट यह समाधान दे रहे हैं

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

कि प्रतिनियत सामग्रीसे अर्थात् इन्द्रिय आलोक उपयोग पदार्थका सामने होना ये सब सामग्री जैसे जुटे उस सामग्रीके वशसे किसी खास अर्थका वह ग्राहक है इस रूपसे ज्ञान उत्पन्न होता है और तब प्रतिकर्म व्यवस्था सिद्ध होती है। यदि ऐसा न माना जाय तो जो साकार ज्ञानवादी है अर्थात् पदार्थसे ज्ञान उत्पन्न हुआ है और वह ज्ञान पदार्थके आकार बना है इस तरह मानने वाले हैं उन लोगोंके यहाँ भी प्रतिकर्मकी व्यवस्था असिद्ध हो जायगी। साकार ज्ञानवादियोंको भी प्रतिनियत सामग्रीके वशसे प्रतिनियत अर्थका वह जाननहार है यह व्यवस्था अंगीकार करनी ही पड़ेगी अन्यथा वे बतायें कि ज्ञान इस पदार्थसे ही क्यों उत्पन्न हुआ ? जब लोकमें पदार्थ अनगिनते हैं तो सभी पदार्थोंमे ज्ञान उत्पन्न होगा, सभी पदार्थोंके आकार बन जायेंगे या अटपट कभी किसी पदार्थके आकार बन जायें कभी किसी पदार्थके आकार बन जायें, यह अव्यवस्था होगी। ऐसी अव्यवस्था दूर करनेके लिए ज्ञानको साकार मानने वाले क्षणिकवादियोंको भी यह मानना ही पड़ेगा कि प्रतिनियत अर्थका ज्ञाता न मानने पर जितने नील, पीत आदिक ज्ञान हैं उन ज्ञानोंमें समस्त आकारपना आ जायगा ज्ञानमें, क्योंकि जैसे नीलका ज्ञान किया जा रहा है वैसे ही पीत आदिक सभी पदार्थों का भी ज्ञान हो बैठेगा। अतः चाहे निराकार मानें ज्ञानको चाहे साकार मानें ज्ञानको इस ही पदार्थको जान रहा है। यहाँ यह व्यवस्था इस ही प्रकारसे माननी होगी कि प्रतिनियत सामग्रीसे प्रतिनियत अर्थका ज्ञान होता है।

वस्तुतः ज्ञानकी निराकारता और संशयज्ञानके उत्पादक कारण— वस्तुतः अन्तः परखिये तो ज्ञान साकार नहीं होता, यह अनुभवमें आयगा। ज्ञान तो अमूर्त है—रूप, रस, गंध, स्पर्श, शब्दसे रहित है, उसमें आकार क्या ? तो इस कारण विशेषाकार बुद्धि जो सामान्यको ग्रहण कर रही है वह किन्हीं कारणोंसे अस्पष्ट है और किसी वस्तुमें सामान्यरूपसे विशेषका प्रतिभास करने वाली बुद्धि भी कहीं कहीं अस्पष्ट होती है. अर्थात् चाहे ज्ञान सामान्यता अर्थको जाने अथवा विशेषतया अर्थको जाने यदि अस्पष्ट प्रतिभासके कारण जुटे हैं तो अस्पष्ट प्रतिभास होगा, स्पष्ट प्रतिभासके कारण स्पष्ट हैं तो स्पष्ट प्रतिभास होगा। वहाँ यह नहीं कह सकते कि विशेष प्रतिभास अस्पष्ट होता। स्पष्ट होनेको सामग्रीसे सामान्य भी स्पष्ट होता और विशेष भी स्पष्ट होता। अस्पष्ट होनेकी सामग्रीसे सामान्य भी अस्पष्ट होता और विशेष भी अस्पष्ट होता है। समस्त विशेषोंसे रहित सामान्यका प्रतिभास होता ही नहीं है। केवल कोई सामान्य सामान्यका ही प्रतिभास हो यह कभी सम्भव नहीं है। विशेषरहित सामान्य कुछ होता ही नहीं है और ऊर्ध्वता सामान्यमें एवं विशेषमें जब प्रतिनियत देशकाल आदिक जुटे हैं तो उस समय ऊर्ध्वता सामान्य और विशेषके प्रतिभासमान होनेपर स्थाणु और पुरुष विशेषमें संदेहकी अनुपपत्ति नहीं है, क्योंकि वहाँ स्थाणु और पुरुष विशेषका पूर्णतया अपने अपने स्वलक्षणसे प्रतिभास नहीं हुआ है। सन्देह हमेशा वहाँ ही होता है जहाँ सामान्यका तो प्रत्यक्ष हो और विशेषका प्रत्यक्ष न

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

हो। साथ ही विशेषकी स्मृति हो रही हो। तो जब निकट देशमें प्रतिपत्ता नहीं है और उसका हो रहा है स्मरण तो सन्देह खुद हो ही जायगा। जैसे कहीं सीप पड़ी है, दूरसे हम उसे देख रहे हैं तो सन्देह हो रहा है कि सीप है कि चाँदी है। और, जब पासमें जाकर देखेंगे तब तो सन्देह नहीं होता। तो सन्देह होनेका कारण है कुछ दूर से परखना। कितनी दूरसे दिखनेपर सन्देह हो सकता है यह अनुभवसे समझ लेना चाहिये।

संशयके उक्त हेतुओंकी सिद्धि और संशयनिवारक प्रतिवचनकी युक्तता होनेसे श्रुतिवाक्यके भावनारूप अर्थकी सिद्धिका भट्ट मीमांसकोंका पक्ष -- यहाँ तक यह बात सिद्ध हुई कि सामान्यका प्रत्यक्ष होनेपर और विशेष प्रत्यक्ष न होने पर साथ ही विशेषका स्मरण होनेपर सन्देह होता है ठीक इस ही पद्धतिमें पचति यजते आदिक क्रियाओंके विशेषका तो प्रतिभास न हो और करोति (करता है) इतनी मात्र क्रिया सामान्यका प्रतिभास हो और यजते अथवा पचति क्रिया विशेषणका स्मरण व प्रश्न हो तब सन्देह होना युक्त ही है कि क्या करता है। जब कहा कि देवदत्त करता है तो वहाँ यह प्रश्न क्यों उठता कि क्या करता है ? प्रश्न करने वालेको वहाँ सन्देह होता है और यह सन्देह होता कि जो बोला गया है कि यह करता है तो करता-पना तो पूजनोंमें भी है, रसोई पकानेमें भी है। तो करना यह अर्थ तो सामान्य अर्थ है, वह दोनों क्रिया विशेषमें लगता है। सो क्रिया सामान्का तो ग्रहण कर लिया और क्रिया विशेषका ज्ञान किया नहीं और स्मरण सो हो रहा कि पूजाकी बात कर रहा कि पकानेकी बात कर रहा। तो ऐसी स्थितिमें यहाँ भी सन्देह हो जाता है। और, तभी यह प्रश्न होता है कि क्या करता है देवदत्त ? ऐसे प्रश्नके होनेपर यह वचन कहना कि यह पकाता है अथवा पूजता है ऐसा जो प्रतिवचन बोला जाता वह तो मोकेकी बात है क्योंकि पूछा गया पुरुष ही उत्तरको दिया करता है। जब उस करोति क्रिया सामान्यको सुननेसे सन्देह होनेके कारण प्रश्न हुआ तो उस प्रश्नके उत्तरमें जो वचन बोला गया वह वचन कैसे न घटित होगा ? इस प्रकार वचनादिक क्रिया विशेष को साधारणरूप जो करोति क्रिया है वह कथंचित् उससे भिन्न रूपसे पायी गई तब यजनादिक क्रिया विशेषके कर्ताके व्यापाररूप जो अर्थ भावना कही है वह सब सिद्ध होती है याने श्रुति वाक्यका अर्थ भावना है और वह शब्द भावना और अर्थ भावना रूप है। तो शब्दोंमें जो व्यापार प्रकट हुआ है तो है शब्दभावना। उसके माध्यमसे पुरुषमें जो विशेष क्रियाका व्यवहार हुआ वह है अर्थभावना। तो शब्दभावनारूप शब्दभावनाकी तरह अर्थभावना भी प्रमाण सिद्ध है। जैसे कि उक्त कथनमें यह बताया गया कि सामान्य धात्वर्थ और विशेष धात्वर्थ बराबर विभिन्न रूपसे हैं और अभेदरूपसे भी हैं तब उनमें शब्दभावना बनी, इस प्रकार क्रियाका जो अर्थ उस व्यापारमें लगे हुये पुरुषमें वह भावना बाधा रहित सिद्ध होती है तब वह भावना ही श्रुतिवाक्यका अर्थ है नियोग श्रुतिवाक्यका अर्थ नहीं। जैसे कि अन्यापोह श्रुति वाक्यका अर्थ नहीं है

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

इसी तरह नियोग भी नही है। तब भट्टका जो सम्प्रदाय है कि भावनारूप ही श्रुति-वाक्यका अर्थ है वह बराबर प्रमाणसिद्ध सिद्ध होता है।

भट्ट मीमांसकके मन्तव्यका उपसंहार—भट्ट मीमांसकके मन्तव्यके वेद-वाक्यकी प्रमाणता कार्यमें और अर्थभावनामें है, अर्थात् श्रुतिवाक्यका अर्थ भावना, पुरुषका व्यापार व शब्दकी प्रेरणाहै सो श्रुतिवाक्यकी इनमें तो प्रमाणता है पर नियोग में या अन्यापोहमें प्रमाणता नही है तथा वेदमें वाक्यका अर्थ केवल ब्रह्मस्वरूप ही हो सो भी बात नहीं है। जैसे किसीने कहा कि स्वर्गाभिलाषी पुरुष यज्ञ करे तो विधि-वादी इसका अर्थ लगाते हैं कि तुमने यह कहा कि ब्रह्म। उस ऐसे श्रुतिवाक्यकी प्रमा-णता स्वरूपार्थमें भी नहीं है क्योंकि स्वरूपार्थमें बाधक प्रमाणका सद्भाव है भट्ट द्वारा और नियोगवादी मीमांसकके द्वारा श्रुतिवाक्यका अर्थ ब्रह्मस्वरूप नही किन्तु जो कहा जिस कार्यकी प्रेरणा दी वह अर्थ है और उसका निराकरण करनेसे भट्टका कोई प्रति वाद नही है। यहाँ तक भट्ट मीमांसकोंमें श्रुतिवाक्यका अर्थ शब्दभावना और अथभा-वना प्रमाणीकताकी है।

श्रुतिवाक्यका अर्थ शब्दव्यापार व पुरुषव्यापार मानने वाले भट्ट-मीमांसामें शब्दसे शब्दव्यापारकी भिन्नता व अभिन्नतापर विचार—अब स्या-द्वादशासनके माध्यमसे भट्ट सम्प्रदायके उक्त वक्तव्यका प्रतिविधान किया जाता है पहिले तो ये भट्ट यह बतलायें कि तुमने जो यह कहा कि शब्दव्यापारका नाम शब्द भावना है, शब्दमें कुछ अर्थ है ना और उससे कुछ प्रेरणा मिली। तो शब्दके द्वारा जो पुरुषके लिए कुछ शब्द विधि प्रेरणा मिली वह शब्द भावना है तो यह बतलायें कि शब्दका व्यापार शब्दसे भिन्न है या अभिन्न है। शब्दके व्यापारका नाम शब्द भावना कहा है, तो शब्द और व्यापार इन दोके बारेमें पूछा जा रहा कि वह व्यपार शब्दसे भिन्न है या अभिन्न है? यदि कहो कि शब्दका व्यापार शब्दसे अभिन्न है तो अभिन्नके मायने वही है। स्वरूप ही कहलाता है अभिन्न। तब फिर शब्दके शब्द व्यापार वाच्य कैसे बना? शब्द भी वही शब्दव्यापार भी क्योंकि अभिन्न माना। तो शब्दवाचक है, तो शब्दव्यापार भी वाचक ही रहा। फिर अभिन्न ध्येय नही बन सकता। शब्दका स्वरूप शब्दके द्वारा वाच्य तो नही होता। जैसे कहा कि टेबिल तो टेबिल शब्दके द्वारा वाच्य कौन रहा? यह काठकी बनी हुई टेबिल। तो शब्द भिन्न है और टेबिल भिन्न है तभी वाच्य वाचकपना बना ना। अब टेबिल शब्दमें जो आकार है, आवाज है वह शब्द तो शब्दके द्वारा वाच्य नही हुआ। तो शब्दका व्यापार यदि शब्दमें अभिन्न माना गया तो जैसे शब्दका स्वरूप शब्दके द्वारा अभिधेय नही है इसी प्रकार शब्द व्यापार अथवा शब्दभावना शब्दके द्वारा अभिधेय हो सकता। तात्पर्य यह है कि शब्दको अर्थ शब्द व्यापार नही होता, जब व्यापारको शब्दसे अभिन्न मान लिया तब शब्दका वाच्य शब्द व्यापार नही बन सकता शब्दके स्वरूपकी तरह।

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

एक और अनंश शब्दमें प्रतिपाद्यप्रतिपादकताके निमित्तका अभाव— यदि कोई आशंका करे कि शब्दका स्वरूप शब्दसे अभिधेय हो जाय, शब्दका स्वरूप शब्दके द्वारा वाच्य बन जाय तो इसमें कौनसा दोष है ? इसपर कहते हैं कि जो एक है और अनंश है उसमें प्रतिपाद्य प्रतिपादक भाव नहीं बन सकता है। एक गुरु ही बैठा है तो क्या वहाँ प्रतिपाद्य प्रतिपादकभाव बन जायगा। प्रतिपादक मायने बताने वाला और प्रतिपाद्य मायने जो बताया जाय जिसे बताया जाय। तो जो एक ही है और निरंश है, मायने एक है उसमें प्रतिपाद्य प्रतिपादक भाव नहीं बन सकता तो शब्द और शब्दकी स्वात्मा अर्थात् शब्दका ही निजी अभिन्न स्वरूप वह तो एक ही चीज हुई। जैसे आत्मा और मेरा चैतन्यस्वरूप ये तो कोई दो चीजें नहीं हैं। आत्मा का स्वत्व है चैतन्य। तो यों ही शब्दका जो स्वरूप है वह तो एक ही बात है, उस एकमें प्रतिपाद्य प्रतिपादक भाव नहीं बनता। शब्दको यहाँ निरंश इस कारण कहा कि वह ज्ञान जुदा है। ज्ञानकी अपेक्षासे शब्द निरंश है अर्थात् अपने आपमें है। ज्ञानसे उसका सम्बन्ध नहीं है। तो ऐसे अनंश एक शब्दका प्रतिपाद्य प्रतिपादकपना नहीं बनता। जैसे जो एक है, निरंश है, ऐसे ज्ञानमें सम्वेद्य सम्वेदक भाव नहीं बनता अर्थात् वह निरंश एक स्वलक्षणमात्र ज्ञान ज्ञायक भाव भी बने और ज्ञेय भी बने, ये दो बातें नहीं बनतीं। हाँ, माना भी गया है ऐसा कि ज्ञान ज्ञायक है और वही ज्ञान ज्ञेय है लेकिन इस ज्ञायक और ज्ञेयपनेके समर्थनमें उसमें दो अंश बना लिए गए हैं— कर्तृत्व अंश और कर्मरूप अंश। जब कर्तृअंशसे देखते हैं तो वह ज्ञायक है और जब कर्मांशता विधिसे देखते हैं तो वह ज्ञेय है। यदि कहो कि एक भी है अनंश भी है तो भी उसमें प्रतिपाद्य प्रतिपादकपना बन जायगा। यदि ऐसा कहते हो तो अपने अभिमत सिद्धान्तसे उल्टे माननेके रूपसे प्रतिपाद्य प्रतिपादक भावकी आपत्ति आती है अर्थात् भट्टजनोंको इष्ट है कि शब्द प्रतिपादक है और स्वरूप प्रतिपाद्य है। इस प्रसंगमें भट्ट यह सिद्ध करना चाहते कि शब्द ही बताने वाला है और शब्दका स्वरूप प्रतिपाद्य है, वाच्य है तो यह उस ही शब्दमें विपरीतपना आ गया ना। जो एक ही शब्द प्रतिपादक है उस हीको माना जाय प्रतिपाद्य तो उसमें विरुद्ध धर्म स्वीकार करना पड़ा ना।

शब्दसे शब्द व्यापारके अभिन्न माननेमें प्रतिपाद्य प्रतिपादकताके प्रतिनियमका अभाव— यहाँ एक आपत्ति यह आती है कि जब शब्द और स्वरूप दोनों अभिन्न हैं तो शब्द प्रतिपादक है, स्वरूप प्रतिपाद्य है ऐसा ही क्यों हो ? हम कहें कि स्वरूप प्रतिपादक है और शब्द प्रतिपाद्य है उसमें कोई नियम बनानेका कारण नहीं हो सकता। जब शब्द और शब्दका स्वरूप दोनों हैं अभिन्न, एक हैं, अब वहाँ भेद कैसे बन सकता कि शब्द प्रतिपादक है और स्वरूप प्रतिपाद्य है। विपर्यय भी तो कहा जा सकता कि स्वरूप प्रतिपादक है शब्द प्रतिपाद्य है। जैसे आत्मा चैतन्य स्वरूप है। अब वहाँ कोई यह कहे कि आत्मा ज्ञाता है और चेतन ज्ञेय है तो यह तो नहीं बन सकता, क्योंकि कोई इसके विरुद्ध यह भी कह सकता कि चेतन ज्ञाता है और आत्मा ज्ञेय है।

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

जब आत्मा और चेतन एक ही है और उसमें किसी भी अपेक्षासे अंशकी कल्पना भी नहीं करना चाहते, तो वहां प्रति नियम नहीं बन सकता है कर्ताका और कर्मका। तो यों शब्द और शब्दका स्वरूप अभिन्न होनेसे उसमें प्रतिपादन प्रतिपाद्यपना नहीं बनता, तो ऐसे ही शब्द और शब्दका व्यापार ये दोनों यदि अभिन्न हैं तो इनमें भी प्रतिपादक प्रतिपाद्यपना नहीं बन सकता। यदि कहो कि हम शब्दमें अंश सहितपनेकी कल्पना करने लगे तो उस ही शब्दमें प्रतिपादक अंश है और प्रतिपाद्य अंश है यों फिर शब्द प्रतिपादक बन गया और शब्दस्वरूप प्रतिपाद्य हो गया। तो यों शब्दमें अंशसहितकी कल्पनाके द्वारा प्रतिपादक प्रतिपाद्य भाव मान लेंगे। तो उत्तरमें कहते हैं कि भेद-कल्पनासे प्रतिपाद्य प्रतिपादकपना मानोगे तो इसका अर्थ है कि वह सब काल्पनिक हो गया। शब्दका प्रतिपादकपना और स्वरूपका प्रतिपाद्यपना ये दोनों काल्पनिक हो गए और इसी प्रकार शब्द और शब्दव्यापार इसमें भी शब्द प्रतिपादक है और शब्दव्यापार प्रतिपाद्य है यह भी काल्पनिक बन जायगा, यथार्थ न रहेगा।

श्रोत्रेन्द्रियके द्वारा स्वस्वरूप बतानेके कारण शब्दभावनाकी व्यवस्था बनानेपर रूपभावना आदि अनेक भावनाओंकी प्रसक्ति—अब यहां भट्ट प्रश्न करते हैं कि जैसे शब्द अपने व्यापारसे पदार्थका ज्ञान करा देता है, जैसे बोला टेबिल, तो टेबिल इस शब्दने अपने ही व्यापारसे इस काठकी बनी हुई टेबिलका ज्ञान करा दिया ना, तो जिस तरह शब्द अपने व्यापारसे बाह्य पदार्थका ज्ञान करा देता है उसी प्रकार शब्द श्रोत्रके द्वारा अपने स्वरूपका भी ज्ञान करा देगा। और फिर जिस कारण कि शब्द श्रोत्रके द्वारा स्वरूपका ज्ञान करा देने लगा तो इस ही कारण यह शब्द स्वरूपका प्रतिपादक बन जायगा। इसपर उत्तर देते हैं कि जब शब्द श्रोत्र इन्द्रियके द्वारा अपने स्वरूपको बता देता है और इस कारण शब्दभावना श्रुतिवाक्यका अर्थ मानते हो तो देखो! रूप, रस, गंध आदिकमें भी स्वरूपके प्रतिपादकपनेका प्रसंग आ जायगा, तब फिर रूपादिक भी भावना बन जायगी। जैसे शब्दभावना बोलते हो ऐसे ही रूपभावना ये भी श्रुतिवाक्यके अर्थ बन बैठेंगे। रूपादिक भी तो अपने-अपने स्वभावको चक्षु आदिक इन्द्रियके द्वारा बोध कराता है पुरुषको और यही हुई भावना चक्षु आदिक इन्द्रियका स्वतन्त्रतासे रूपादिकके ज्ञानमें प्रवर्तन कराया, इसलिए वही बन गई रूपभावना। तो चक्षु आदिकका स्वतन्त्रतासे रूपादिकके ज्ञानमें प्रवर्तन कराने से रूपादिक प्रयोज्य हुए और चक्षु आदिक इन्द्रिय प्रयोजक हुई। जैसे कि श्रुतिवाक्य का अर्थ लगानेमें शब्दोंको तो प्रयोजक मानते, नियोजक मानते और पुरुषको प्रयोज्य अथवा नियोज्य मानते तो यहांपर देखो कि इस रूपने चक्षु आदिक इन्द्रियोंने रूपके जाननेमें लगा दिया सो ये रूप आदिक प्रयोज्य हुए और नेत्रादिक प्रयोजक हुए। तो रूप आदिकका निमित्तपना होनेसे अपने स्वरूपका सम्वेदन करानेमें ये चक्षु आदिक प्रयोजक बने। जैसे स्वयं सुलगने वाले कंडेकी अग्निमें वहां वही कंडा और अग्नि प्रयोजक प्रयोज्य बन जाते हैं जो इस तरह शब्दस्वरूपको जताते हैं और उससे शब्द

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

भावना मानते हो तो रूप तो रूपके ज्ञानको कराता है, चक्षु आदिक इन्द्रियके द्वारा तब रूपभावना आदिक भी अनेक भावनायें मान लीजिये। अब भट्ट कहते हैं कि रूप आदिक तो प्रकाश्य ही हैं और उनसे भिन्न चक्षु आदिक इन्द्रिय प्रकाशक हैं। चूँकि रूप और चक्षु ये परस्पर भिन्न हैं, एक नहीं हैं इस कारण चक्षु आदिक तो प्रकाशक हैं और रूपादिक प्रकाश्य हैं इस कारण यह आरोप नहीं दिया जा सकता कि रूप भावना भी बनाले। तो उत्तरमें कहते हैं कि इसी तरह शब्दस्वरूप प्रकाश्य हो जाय और उससे भिन्न श्रोत्र प्रकाशक हो गया तो यों भी शब्द और स्वरूपमें प्रतिपाद्य प्रतिपादकपना न बन सका। भट्ट कहते हैं कि यह बात सत्य है कि इन्द्रिय विषयोंके याने श्रोत्र इन्द्रिय जन्य ज्ञानके विषयपनेको अनुभवता हुआ शब्द प्रकाश्य ही है रूपादिककी तरह, परन्तु वही शब्द स्वरूपमें शाब्दी बुद्धिको, शब्दस्वरूप ज्ञानको उत्पन्न करता हुआ ही प्रतिपादक कहा जाता है। शब्द यद्यपि प्रकाश्य है, शब्द स्वयं ज्ञेय है, लेकिन वही शब्द स्वरूपकी बुद्धिको भी उत्पन्न कराता हुआ प्रतिपादक माना जायगा। उत्तर में कहते हैं कि यह कहना युक्त नहीं होता, क्योंकि शब्द और शब्दस्वरूपमें वाच्य-वाचकभावका सम्बन्ध नहीं है। जैसे टेबिल कहा तो यह काठकी टेबिल वाच्य हुई। यों शब्दमें और अर्थभूत टेबिलके ही जो टेढ़े अक्षर हैं वे शब्दमें ही स्वरूपको वाच्य बना दें यह तो सम्भव नहीं है, क्योंकि वाच्य वाचकपना दो पदार्थोंमें रहता है। जैसे टेबिल शब्द वाचक और काठकी टेबिल वाच्य है तो ये दो हैं तब ना वाच्य वाचकपना बना। एकमें वाच्य वाचकपना नहीं बनता। शब्द और शब्द ही का भिन्न स्वरूप ये दो चीजें नहीं हैं। एक है, इस कारण इस एकमें वाच्य वाचकपना नहीं बन सकता। इस तरह शब्दोंको और व्यापारको अभिन्न माननेपर शब्दके द्वारा शब्दव्यापार वाच्य नहीं हो सकता। क्योंकि शब्द और शब्दव्यापार ये दोनों एक स्वरूप हो गए।

शब्द व्यापारको शब्दसे भिन्न माननेपर अनवस्थाकी प्रसक्ति - यदि कहो कि शब्द और शब्द व्यापार ये भिन्न हैं, शब्दसे शब्दका व्यापार न्यारा है तो इस विकल्पमें वह शब्दके द्वारा प्रतिपाद्यमान होता था कारणभूत अन्य प्रकारसे यदि प्रतिपाद्य बनाया जाता है तो इसका भाव यह हुआ कि जैसे पहिले कहा कि शब्द व्यापारके द्वारा पुरुष व्यापार भाव्य होता है इस ही तरह यह भी बन गया कि व्यापारान्तरके द्वारा शब्द व्यापार भाव्य हुआ। सो अर्थ यह बना कि वह व्यापारान्तर भावना हुई शब्द व्यापार भावना न हुई। वह भी व्यापारान्तर यदि शब्दसे भिन्न है तो वह भी किसी अन्य व्यापारान्तरसे भाव्य बनेगा। यहाँ यह कहा जा रहा कि शब्दसे शब्द का व्यापार भिन्न है। यदि शब्द व्यापारको शब्दने जो जाना तो किसी अन्य प्रकारसे जाना तो व्यापारान्तर भावना बनी और फिर वह व्यापारान्तर किसी अन्य व्यापारसे जाना तो वह अन्य व्यापारान्तर भावना बनी। इस तरह नये-नये दूसरे-दूसरे भाव्य भावनाकी कल्पना करते जाइये, उसमें अनवस्था दोष आयगा।

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

शब्दसे शब्द व्यापारको निरपेक्ष भिन्न व अभिन्न माननेपर उभयपक्ष-दोष प्रसक्ति तथा सापेक्ष भिन्न अभिन्न माननेपर स्याद्वादके आश्रयणकी सिद्धि—अब भट्ट मीमांसक कहते हैं कि शब्दसे शब्दका व्यापार कथंचित् अभिन्न है क्योंकि शब्द और शब्द व्यापार ये दोनों पृथक्‌रूपसे पाये नही जाते। जैसे कि मटका और बेर। मटकामें बेर तो है किन्तु मटका और बेर ये भिन्न-भिन्न हैं। बेर मटकासे अलग पाये जाते हैं, इस तरह शब्द और शब्द व्यापार ये दोनों परस्पर पृथक्‌रूपसे पाये नही जाते। अतः वाक्यमें और वाक्य व्यापारमें कथंचित् अभेद है और साथ ही यह भी समझिये कि इनमें कथंचित् भेद भी है, क्योंकि शब्दका धर्म और है तथा शब्द व्यापारका धर्म और है सो विरुद्ध धर्मके रहनेसे इनमें कथंचित् भिन्नता भी है। विरुद्ध धर्म क्या है कि देखिये शब्दकी उत्पत्ति न होनेपर भी शब्दव्यापार उत्पन्न होता है मीमांसक सिद्धान्तमें शब्दकी उत्पत्ति नहीं होती। शब्द सदा अनादि अनन्त आकाशवत् नित्य रहता है। तो शब्दकी तो उत्पत्ति नहीं हुई और शब्दव्यापारकी उत्पत्ति हुई यने उस शब्दको सुनकर जो काम बना जो ज्ञान बना, जो पुरुषमें व्यापार बना वह पहिले तो न था और अब हुआ तो शब्दके अनुत्पाद होनेपर भी शब्द व्यापारका उत्पाद देखा गया है और शब्दका विनाश न होनेपर भी व्यापारका विनाश देखा गया है। जैसे आकाश और अंधकार भेद है क्योंकि आकाशका धर्म है नित्यपना अंधकारका धर्म है अनित्यपना। आकाशकी उत्पत्ति न होनेपर भी अंधकारका उत्पाद देखा गया है और आकाशका विनाश न होनेपर भी अंधकारका विनाश देखा गया है तो जैसे आकाश और अंधकारमें जुदे धर्म हो गए ना, इसी तरह शब्दमें और शब्दव्यापारमें जुदे धर्म हो गए तो यों शब्दसे शब्दका व्यापार सर्वथा भिन्न नहीं है जिससे भिन्न बताकर कोई दोष दे और इसी तरह शब्दका व्यापार सर्वथा अभिन्न नही है जिससे कि अभिन्न बताकर दोष दिया जाय। उक्त शंकापर अब उत्तर देते हैं कि शब्द और शब्द व्यापारका जब भेद मानते हो तो वो भिन्न माननेमें जो दोष बताये गये हैं वे दोष आयेंगे और शब्द और व्यापारको यदि अभिन्न मानते हो तो जो दोष अभेदमें बताये गये थे वे ही दोष आयेंगे इसलिए शब्दसे शब्दके व्यापारको अभिन्न बताकर या भिन्न बताकर दोषसे मुक्त नही हो सकते हो और कथंचित् भेद और अभेद माना या यह एक स्याद्वादका आश्रय करना हुआ, फिर इसमें तुम्हारे किसी एकान्तवादका तो पक्ष न रहा।

वाक्यस्थ वाक्य व्यापाररूप भावनाको वाक्यका विषय न माननेपर ज्ञान और अर्थमें भी विषय विषयीभावके विरोधका आक्षेप—अब भट्ट मीमांसक कहते हैं कि शब्दका जो व्यापार है वह शब्दमें ही स्थित हैं क्योंकि जब शब्द सुना कि अग्निस्टोमसे स्वर्गाभिलाषी यज्ञ करे, जैसे कि वेद वाक्यके कहनेमें शब्दका ग्रहण किया तो ऐसा ग्रहण किया गया वह वाक्य भावनारूप ही बना और वाक्यका विषयभूत बना, क्योंकि यह वाक्य पुरुष व्यापारका साधक है इस रूपसे अनुभव होता है, यह

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

शब्द श्रोता जो इस शब्दसे पुरुषमें व्यापार बनेगा, वह पक्ष के यत्नमें लगेगा ऐसा देखा जाता है ना, तो इस अनुभवमे वाक्यका व्यापार वाक्यमें ही रहता है और वही भावना है जो वाक्यका विषय बनता है ऐसी प्रतीति ही है, अन्यथा अर्थात् यदि भावनाको वाक्यका विषय नही मानते तब इन जैनोंके यहाँ भी और सबके यहाँ भी फिर विषय और विषयी भावकी संभावना ही नही हो सकती याने यह ज्ञान है और इस ज्ञानने इसको विषय किया यह कहीं घटित नहीं हो सकता, यदि भावनाको वाक्यका विषय नही मानते। कैसे ? सो सुनिये हम उन जैन आदिकोंसे पूछ सकते हैं कि आप लोगों का ज्ञान भी अपने अर्थग्रहणरूप व्यापारको विषय करता हुआ यह बतलाओ कि वह ज्ञान अपनेसे अभिन्नरूप व्यापारको जानता है या भिन्नरूप अपने व्यापारको जानता है? या कथंचित् उभय स्वभावरूप व्यापारको जानता है ? यहाँ यह पूछ रहे है कि ज्ञान ज्ञानके स्वरूपको भी तो जानता है। ज्ञान जब स्वात्माको विषय कर रहा तो यह बतलावो कि वह स्वात्मा विषय ज्ञानका स्वरूप जानने वाले ज्ञानने भिन्न है या अभिन्न है? जिसको कि विषय किया गया। ये सब विकल्प भट्ट मीमांसक जैनोंके प्रति उस ही प्रकारसे कर रहे हैं जैसे कि जैनोंने वाक्य और भावनाके सम्बन्धमें किया था। यदि ज्ञान अपने व्यापारको अभिन्नरूप विषय करता है तो फिर इसमें सम्वेद्य सम्वेदक भाव न रहा। ज्ञानका स्वरूप सम्वेद्य है और ज्ञान सम्वेदक है, फिर यह भेद न रहा क्योंकि सम्वेदक और सम्वेद्यका व्यापार ये दोनों सर्वथा अभिन्न मान लिए गए। तो जब ज्ञान और ज्ञानव्यापार ये सर्वथा अभिन्न हुए तो वाक्य और वाक्य व्यापारमें प्रतिपाद्यता नही बन सकता ऐसा जैनोंने कहा था, सो इसी तरह ज्ञान और ज्ञान व्यापारमें सम्वेद्य सम्वेदकपना नही बन सकता। यदि कहो कि सम्वेदनसे सम्वेदनका व्यापार भिन्न है तो भिन्न है तो भी सम्वेद्य सम्वेदक भाव नहीं बन सकता, क्योंकि इसमें अनवस्था दोष आता है। याने यदि सम्वेदनके सम्वेदनका व्यापार भिन्न माना गया है तो जो सम्वेदन व्यापार भिन्न माना गया है तो जो सम्वेदन व्यापार सम्वेदकके द्वारा सम्वेद्यमान हुआ है यह यदि व्यापारान्तरके द्वारा सम्वेद्यमान होता है तो वह सम्वेदन व्यापार व्यापार व्यापारान्तरके द्वारा होने वाला समझियेगा। अर्थात् यहाँ ज्ञान तो है ज्ञायक और ज्ञान व्यापार है ज्ञेय तो ज्ञानने स्वकीय ज्ञान व्यापारको जाना तो किसी व्यापारके द्वारा ही तो जाना। यदि वह व्यापारान्तर है जिसके द्वारा ज्ञानने अपने व्यापारको जाना तो वह व्यापारान्तर भी सम्वेदनसे भिन्न रहा, तो वह व्यापारान्तर भी अन्य व्यापारसे जाना जायगा। यों अनवस्था दोष आता है। जैसे कि वाक्य और वाक्य-व्यापारको भिन्न बताकर उसमें अनवस्था दोष दिया था वही अनवस्था दोष जैनोंके भी प्राप्त होता है। यदि कहो कि ज्ञान और ज्ञानव्यापार उभय स्वभाव है, भिन्न भी है, अभिन्न भी है तो इसमें भिन्न और अभिन्न पक्षमें जो जो दोष दिया गया वे सब दोष यहाँ भी लागू होंगे। जैसे कि वाक्य और वाक्यके व्यापारमें उभय स्वभाव माननेपर दोष दिया गया था इसी तरह यहाँ भी दोष आयेंगे तब भी ज्ञान और ज्ञान स्वरूपमें

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

सम्वेद्य सम्वेदकभाव नहीं बनता।

शंकाकारके ही द्वारा ज्ञान और अर्थमें सहज संवेद्य संवादकभावपनेकी सिद्धिकी तरह वाक्य और वाक्य व्यापारमें प्रतिपाद्य प्रतिपादकभावपनेकी सिद्धिका कथन—यदि जैन लोग यह कहें कि ज्ञानका जो स्वकीय स्वरूपके ज्ञानके व्यापारसे विशिष्ट सम्वेदन निर्बाध ही अनुभूयमान हो रहा है अर्थात् ज्ञानके जाननरूप बन रहा है, सो अपना स्वरूप सम्वेदन करते हुए जाननरूप बन रहा है, इसमें कोई बाधा नहीं आती है, कोई सैकड़ों भी विकल्प उठावें तो भी उसका निराकरण नहीं किया जा सकता। इस कारण वह अनुभूयमान सम्वेद जो कि अपने स्वरूपके सम्वेदनरूपसे सहित है वह सम्वेद्य सम्वेदकभावको सिद्ध कर देता है। जैसे कोई कहे कि दीपकने अपने स्वरूपको भी प्रकाशित किया। दीपक जब जलता है तो दीपक भी तो स्वयं प्रकाशमान है ना। तो दीपकने जो स्वयंको प्रकाशित किया है सो क्या अन्य व्यापारको किया है ? नहीं। दीपक ही स्वयं अपने आपके स्वरूपके प्रकाशन व्यापारसे विशिष्ट होता हुआ अपने आपको प्रकाशित कर रहा है, और इस बात ेे समझनेमें किसीको कोई बाधा भी नहीं आती। तो यों ही यह सम्वेदन अपने स्वरूपको स्वतः ही जानता हुआ सम्वेद्य सम्वेदकभावको सिद्ध कर देता है, यदि ऐसा कहो तो फिर भट्ट मीमांसकोंके यहाँ भी मान लीजिये याने यहाँ भी यह बात लेना चाहिए कि वाक्य व्यापार अपने व्यापारसे विशिष्ट होता हुआ पुरुष व्यापारको कराता है। शब्दमें जो व्यापार है वह शब्दके कारण शब्दमें ही उठ रहा है और वह व्यापार फिर पुरुषके व्यापारको कराता है, याने कैसे आज्ञा दी—पूजामें लगा दिया। तो वह शब्द व्यापार पुरुष व्यापारको करा देता, इस तरह वाक्य व्यापार ही भावना और वाक्यका विषयभूत ठहरता है, उसमें किसी प्रकारकी विपत्ति नहीं दे सकते।

वाक्य और वाक्य व्यापारमें प्रतिपाद्य प्रतिपादकता सिद्ध करनेके लिये ज्ञान और अर्थमें विषय विषयीभावके निराकरणके आक्षेपकी अयुक्तता—उक्त आशंकापर अब उत्तर देते हैं स्याद्वादी कि उक्त शंका युक्तिसंगत नहीं है। वाक्य और वाक्य व्यापारमें प्रतिपाद्य प्रतिपादकपना नहीं बनता, सो उस दोषको मिटानेके लिए जो ज्ञान और ज्ञान स्वरूपमें सम्वेद्य सम्वेदकपना न बननेकी बात उन्हीं शब्दोंमें दुहरा रहे हो सो यह बात यों ठीक नहीं है कि दृष्टान्त और दार्ष्टान्तमें विषमता है। वाक्य और वाक्य व्यापारकी तरह ये सब बातें ज्ञान और ज्ञान व्यापारमें नहीं हैं, इसका कारण यह है कि ज्ञानके द्वारा जाना गया ज्ञानस्वरूप अथवा बाह्य पदार्थ या वही निजार्थ वह उस वाक्यका विषय नहीं है और न वह स्वात्मा सम्वेदक है किन्तु वह ज्ञानका सम्वेद्य स्वरूप जो हो रहा है उसके जाने जानेमें, ज्ञात होनेमें वही सम्वेदन अंश उसका सम्वेदक बनता है सो इसका ज्ञान किए जानेमें कहीं अन्य सम्वेदनकी प्रतीक्षा नहीं करनी होती इस कारण यहाँ अनवस्था दोष नहीं आता। जैसे कि दीपक

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

ने अपने आपके स्वरूपको प्रकाशित किया तो कोई कहे कि जैसे घड़ा उठानेके लिए दीपककी जरूरत पड़ती, इसी तरह दीपकको उठानेके लिए दूसरे दीपककी जरूरत पड़ेगी, सो क्यों पड़ती है ? नही पड़ती । दीपकमें ही प्रकाश्य अंश और प्रकाशक अंश मौजूद है । है यद्यपि वह एक है, मगर उस हीका प्रकाश्य धर्म है, इसी प्रकार ज्ञान है एक किन्तु ज्ञानमें सम्वेदकत्व धर्म है और सम्वेद्यत्व धर्म है । वही जानने वाला है और वही जाननेमें आ जाता है, किन्तु शब्द और व्यापारमें ऐसी बात नही है । शब्दके द्वारा भाव्यमान पुरुष व्यापार अर्थात् शब्दसे जिसने कुछ प्रेरणा पायी उस पुरुषमें जो क्रिया हुई है वह व्यापार उस वाक्यके द्वारा विषय नहीं बनता, परन्तु भावकत्वरूप भावनात्मक शब्द व्यापार विषय माना गया है, इस कारण दृष्टान्त और दार्ष्टान्तमें जरा भी समता नही है । ऐसी प्रतीति भी नहीं होती । देखिये कोई उस वाक्यको सुनता है तो उस वाक्यके श्रवणसे ऐसा विश्वास नहीं करता कि इस वाक्यने मेरा व्यापार प्रतिपादित किया है । जैसे कहा, किसीने आज्ञा दी मुझे कि मदिर जावो तो इन शब्दोंने यह नहीं जाहिर किया, वहाँ, इसने यह नहीं जान पाया कि इन शब्दोंने उसका मेरा व्यापार प्रतिपादित किया है । तो फिर क्या है सो सुनो, जाति गुण द्रव्य विशिष्ट जो अर्थ है, क्रिया नामक जो अर्थ है वही शब्दके द्वारा प्रकाशित हुआ है यह प्रतीति होती है । किसीने कहा कि मित्र जावो—तो इस शब्दसे आपना जानेरूप व्यापार नहीं बताया गया है किन्तु जानेकी क्रिया कर्तव्यता प्रदिपादित हुई है ।

सर्व वाक्योंमें कर्मादिविशेषण विशिष्ट क्रियाका प्रकाशन—सब ही वाक्योंके द्वारा कर्मादिक विशेषण विशिष्ट क्रियाका ही प्रकाशन होता है । कोई शब्द बोला, वाक्य बोला तो उस वाक्यमें मुख्य शब्द क्या होता ? क्रिया । जैसे किसीने एक लम्बा वाक्य बोला—देवदत्तने सुबह अष्ट द्रव्योंसे भगवानकी पूजाकी । अब पूजाकी इतना शब्द ही महत्वपूर्ण है । जिससे यह जाना कि पूजनकी बात कही गई है । क्रिया सब भाव सामान्यतया समझ लिया जाता है और इस स्थितिमें समझा तो क्या क्रिया और बाकी शब्द बन गए, क्रियाके विशेषण, पूजा की, किसने की, कब की, कैसे की । ये प्रश्न उठे ना, तो ये सारे प्रश्नोंके उत्तर विशेषणको सूचित करते हैं । मुख्य अर्थ क्या निकला ? क्रियाका अर्थ । तो समस्त वाक्योंके द्वारा क्रिया ही प्रकट की जाती है और वह क्रिया कर्म आदिक विशेषणसे विशिष्ट है । "अमुक बालकने उस छोटे बालकको बिना ही अपराधके पीट दिया ।" ऐसा किसीने बोला तो समझा क्या आपने ? पीट दिया, यह समझा । मुख्यता किस बातपर आयी ? क्रिया पर । अब किसने पीटा, किसको पीटा, क्यों पीटा ? इसका उत्तर विशेषण बन जायगा । तो वाक्यमें मुख्यता किसकी है ? क्रिया की । क्रियाने सब कुछ बता दिया । और, जो कुछ सन्देह था उसको विशेषणरूपसे बता दिया । जैसे किसीने वाक्य कहा कि देवदत्त ! इस सफेद गायको भगा दो । तो क्या अर्थ आया ? कौन सी बात मुख्य हुई . . . दो ! अब कौन भगाये, किसको भगाये, कैसे भगाये ? ये उसके विशेषण बन गए । . . इस

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

प्रसङ्गमें यह कहा जा रहा है कि कुछ भी वाक्य हो—श्रुतिवाक्य, वेदवाक्य, उनमें जो क्रिया है, बस सारा अर्थ क्रियामें भरा है। फिर उस क्रियाके अर्थको और विशेष स्पष्ट करनेके लिए उसके कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान आदिक ये सब विशेषरूप बन जाते हैं, अर्थात् क्रियाकी विशेषता महिमा बताती है।

शंकाकार भट्ट द्वारा क्रियार्थसे भावनाकी सिद्धिका प्रतिपादन और उसकी मीमांसा—उक्त प्रसंगको सुनकर भट्ट मीमांसक कहते हैं कि तब तो भगाना आदिकसे युक्त वह क्रिया ही भावना हुई और वहाँ उस क्रियाका अभ्यास मायने भगाया, इस क्रियाका अर्थ निकला कि अभ्याजन करो, इसको यहाँसे हटाओ तो यह प्रतीति भी हुई, तो अर्थ तो वही निकला कि धात्वर्थसे युक्त क्रियाकी भावना हुई। तो श्रुति वाक्यका अर्थ भावना हुआ। उत्तरमें कहते हैं कि यह बात युक्त नहीं नहीं है क्योंकि क्रिया पुरुषस्थ है, क्रिया पुरुषमें होती तो रह रही है इस रूपसे जाना जा रहा है क्रिया शब्दमें तो नहीं, जैसे कहा देवदत्त गायको भगाओ तो भगाने रूप क्रिया वह हलचल शब्दमें पड़ी है या पुरुषमें ? डंडा उठाकर हाथ घुमाया गया तो पुरुष घुमायगा कि वाक्य घुमा देगा ? क्रिया पुरुषस्थ रूपसे ही ज्ञात होती है, इसलिए क्रियामें शब्दभावनापन और आत्मभावनापन नहीं बन सकता है और जब उन लिंगादिक लकारोंमें शब्दव्यापारका विषयपना न बना तो फिर यह कहना कैसे व्यवस्थित हो सकता कि ये लिंग आदिक लकार शब्द भावना और अर्थभावनाको ही कहते हैं जो कि अर्थभावनासे निराले हैं। लिंग प्रत्ययको कहते हैं। जैसे कहा जावो, पढ़ो तो पढ़ोमें शुद्ध धातु तो पठ है। अब उसके कितने ही रूप बनालो। पढ़ो, पढ़ता है, पढ़ेगा आदि। तो इसमें कमाल है बस प्रत्ययकी, याने उसमें जो लिङ लगा है याने उस ये ने सारा अर्थ बताया और पुरुषको उस काममें लगाया। तो उन लिङ आदिक प्रत्ययोंसे शब्द भावना और आत्मभावना बनती है, यह कथन बिलकुल अयुक्त है। तो यों शब्द व्यापारमें प्रतिपाद्य प्रतिपादकपना नहीं बनता और न इसका स्वरूप सही व्यवस्थित रह सकता है।

पुरुषव्यापाररूप अर्थभावनाकी श्रुतिवाक्यार्थताका निराकरण—भट्टमीमांसकोंने जो शब्दभावनारूप श्रुति वाक्यका अर्थ कहा था उसके सम्बन्धमें तो अभी बता चुके हैं कि शब्दभावनामें वाक्यार्थता नहीं आ सकती है। अब जो यह भी कहा है भट्ट सम्प्रदायने कि पुरुषका व्यापाररूप अर्थ भावना वाक्यका अर्थ है अर्थात् जैसे कहा कि स्वर्गाभिलाषी यज्ञ करे तो वहाँ उस पुरुषका जो व्यापार है वही अर्थभावना है और श्रुतिवाक्यका अर्थ है, वह भी अयुक्त बात है, क्योंकि इस तरह पुरुष व्यापाररूप अर्थभावनाको वाक्यार्थ माननेपर नियोगमें भी वाक्यार्थपनेका प्रसंग आ जायगा क्योंकि मैं इसवाक्यके द्वारा नियुक्त हुआ हूँ यज्ञादिकमें इस तरह जानने वालेकी प्रतीति होनेसे, तो इसमें नियोग अर्थ होती ध्वनित हुआ, इसपर भट्ट कहते हैं कि उस प्रकारका नियोग

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

भावनास्वरूप ही तो है, शब्दव्यापार ऐसा कहनेपर शब्दभावना ही भावनास्वभाव बना, याने यहाँ भी भावना ही अर्थ बना क्योंकि शुद्ध कार्यादिकरूप जो नियोग बताये गये थे उनका निराकरण किया ही गया है। वे तो श्रुतिवाक्यके अर्थ हो नहीं सकते, क्योंकि शब्दव्यापारके ढंगसे जो पुरुषने यह अहंकार किया है कि इस वाक्यके द्वारा मैं अमुक कार्यमें नियुक्त हुआ हूँ तो इसमें पुरुष व्यापार तो आ ही गया है, उसका कैसे निराकरण किया जा सकता है ? उत्तरमें कहते हैं कि यह बात यों ठीक नहीं है कि शुद्ध कार्यादिक नियोग भी विवक्षित क्रियाके विशेषरूपमें होकर वाक्यके अर्थ बन जाते हैं। वाक्यमें केवल क्रियाका ही अर्थ नहीं होता। जितने शब्द बोले गये हैं उन सभी शब्दों का अर्थ होता है, केवल यही न मानना चाहिए कि वाक्यमें जो क्रिया बोली गई है केवल उस धातुका अर्थ ही उस वाक्यका पूरा हृदय है ऐसा यों न मानना चाहिए कि क्रिया यदि निरपेक्ष है तो उससे वाक्यका अर्थ नहीं बन सकता। जैसे यह आदेश दिया कि अमुक बालक बिना पुस्तक देखे कलका पाठ पढ़े तो इसमें क्रिया तो केवल यही है ना – पढ़े, तो इस वाक्यका यदि केवल पढ़ना ही अर्थ हुआ और वह बालक या विषय इनकी कुछ अपेक्षा न रखे तो केवल पढ़े इतना ही तो वाक्यका अर्थ हुआ मान रहे तो बताओ पढ़े इससे क्या समझा ? तो वह पढ़े जो कहा है वह बालक कलका पाठ व बिना देखे आदि जो कर्ता कर्म व क्रिया विशेषण आदिक हैं उन सबकी अपेक्षा से तब तो क्रिया वाक्यका अर्थ बनेगी। केवल क्रिया ही वाक्यका अर्थ नहीं बनती। यदि केवल करोति अर्थ हो याने क्रियाका अर्थ ही वाक्यका अर्थ बन जाय तो यज्यादिक अर्थ भी वाक्यके अर्थ मान लीजिए याने उसमें जितने और कारक बताये गए हैं उन कारकोंकी अपेक्षासे रहित केवल यज्र अर्थ मान लीजिए। अब चाहे वह याग पूजन आदि किसी प्रकार हो, सो तो वाक्यका अर्थ नहीं बनती।

करोति सामान्यको शब्दार्थ सिद्ध करनेका भट्ट मीमांसकका प्रयास – अब भट्ट कहते हैं कि क्रिया सामान्य तो समस्त यज्यादिक क्रियाविशेषोंमें व्यापक है। करना, इतना तो सब क्रियाओंमें पाया जाता। अगर कोई पूजता है तो भी करता ही है कोई पकाता है तो भी करता है कुछ भी क्रिया बोलें सबमें करोति सामान्य तो व्यापक ही है। सो जो क्रिया सामान्य है वह नित्य है, इस तरह शब्दका अर्थ क्रिया सामान्य ही ठीक जचता है क्योंकि यह भी बात बतायी गई है कि शब्द और अर्थके सम्बन्ध नित्य हुआ करते हैं तो शब्द भी जो नित्य हो और अर्थ भी जो नित्य हो उसे दृष्टिमें लो तभी सम्बन्ध नित्य माना जा सकता। तो करोत्यर्थ सामान्य ही नित्य है। और शब्द तो नित्य है ही अर्थात् कुछ भी क्रिया बोलें सभी क्रियावोंमें करोतिका अर्थ तो पड़ा ही हुआ है। कोई कहे यज्ञदत्त बैठता है, तो इसमें कुछ करनेकी बात आयी कि नहीं आयी कोई कहे देवदत्त चलता है, तो इसमें भी करोति अर्थ आया ना, तो करोति अर्थ सामान्य ही वास्तवमें शब्दका अर्थ है क्योंकि वह सब धातुवोंके साथ जुड़ा हुआ है फिर यज्यादिक क्रिया विशेष पूजन बैठन चलन आदिक जो खास कहे गये है वे

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

शब्दके अर्थ नहीं बनती, क्योंकि ये क्रियायें अनित्य हैं। बैठता है तो और कुछ क्रिया विशेष नहीं करता। खड़ा हो गया तो बैठना मिट गया ना। चल दिया तो खड़ा होना मिट गया ना। तो वह क्रिया विशेष अनित्य है, मगर करोति सामान्य--यह अनित्य नहीं है। खड़ा हो गया। तो भी कुछ किया, चल दिया तो भी कुछ किया। तो करोति अर्थ सामान्य है नित्य है और तभी वह शब्दार्थ बनता है, पर अन्य क्रिया विशेष है अनित्य वे शब्दार्थ नहीं बन सकते इससे भी यह सिद्ध है कि करोति अर्थ वाक्यार्थ है।

भट्टारेकित करोत्यर्थकी सामान्यताका निराकरण—उक्त शंकाके समाधानमें कहते हैं कि धात्वर्थ सामान्य अर्थ लगाकर उसको शब्दका अर्थ बता रहे हो तो इस तरह यों लगाइये ना, कि यज्यादिक क्रियासामान्य समस्त यज्यादिक क्रियाविशेषोंमें व्यापकर रहा है याने पूजनसामान्य। जितने प्रकारके पूजन हैं, उन सब क्रियाओंमें रह रहा है तो पूजन सामान्य नित्य हो गया, इस कारण उसमें भी शब्दार्थपनेका विरोध नहीं होता। जैसे किसीने गुरुकी पूजा की तो पूजा ही तो की। शास्त्रकी पूजा की तो पूजन सामान्य ही तो रहा। कोई भी पूजा करे, पूजनका सामान्य तो वहाँ भी रहा। तो यहाँ इस तरह घटा लीजिए कि यज्यादिक क्रियासामान्य समस्त यज्यादिक क्रियाविशेषोंमें रह रहा है अतएव वह नित्य है और उसमें शब्दार्थपना फिर विरोधको प्राप्त न होगा। अब भट्ट अपने मतव्यकी इस बाधाका निराकरण करनेके अभिप्रायसे कहते हैं कि करोति सामान्य क्रियामें व्यापक है, यज्यादिक क्रिया सामान्य जो तुम कह रहे सो तो पूजा विशेषकी क्रियामें ही व्यापक है लेकिन करोति सामान्य सबमें व्यापक है। पूजन हो वहाँ भी करोति सामान्य है, उठना बैठना हो वहाँ भी है, इस कारण करोति सामान्य ही शब्दका अर्थ है जो अधिकसे अधिक सामान्य बने उसे शब्दार्थ मानिये। यज्यादि क्रिया सामान्य अधिक सामान्य नहीं बन पाते। इसपर स्याद्वादी उत्तर देते हैं कि यदि तुम्हारी यह हठ है कि जो अधिकसे अधिक सामान्य बने वह शब्दका अर्थ है यो सुनो! सबसे अधिक सामान्य तो सत्ता है। अस्ति, यह अर्थ सबसे अधिक सामान्य है। तब फिर सत्ता सामान्य याने भवन क्रिया भू धात्वर्थ यही शब्दका अर्थ बना, करोति अर्थ भी वाक्यका अर्थ नहीं बनता क्योंकि वह सत्ता सामान्य करोतिमें भी मौजूद है। करता है कुछ, यहाँ भी है कुछ. तो सत्ता महाक्रिया सामान्य है। जैसे कहते हो कि करोति अर्थ यजते पचति सब क्रियाओंमें व्यापक है, लेकिन उस करोति अर्थसे भी अधिक व्यापक भवति, अस्ति है। महाक्रिया सामान्यकी सदैव व्यवस्था है क्योंकि सत्ता सामान्य शाश्वत है। जैसे कि किसीने प्रयोग किया पचति तो उसका अर्थ क्या लगाते हो? पाक करोति याने पकाता है। इसमें बात यही तो आई कि पाक करता है और इस तरह करोति सामान्य आप पचतिमें व्यापक बताते हो। तो जिस तरह पचति यजते आदिक क्रियावोंमें करोति अर्थ आप प्रविष्ट मानते हो तो इस तरह पचतिका यह अर्थ करनेपर कि पाचकः भवति—पकाने वाला हो रहा। यों कहना कि देवदत्त पकाता है और यों कह देवे कि देवदत्त पकाने वाला

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

होता है तो भवन क्रिया सामान्य व्यापक बन गई। यजते पूजता है इसका भाव यह है कि पूजको भवति पूजक होना है, करोति करता है—इसका अर्थ यह हुआ कि कारको भवति याने कारक होता है। तो इस तरह भवति रूपसे भी तो ज्ञान होता है। तब यह महा क्रिया यह सत्ता यह भवन अर्थ करोति क्रियामें भी व्यापक है और यजते पचति आदिक क्रियावोंमें भी व्यापक है तब तो फिर भवति अर्थको ही सत्ता सामान्य को ही शब्दार्थपना कहना युक्त दिखता है यों फिर करोति अर्थ सामान्य भी वाक्यका अर्थ नहीं घटित होता।

भवत्यर्थमें क्रियास्वभावताका निराकरण करके करोत्यर्थमें ही सामान्यता सिद्ध करनेका प्रयास और उसका निराकरण —अब यहां भट्ट मीमांसक कहता है कि करोति ही क्रियास्वभावरूप है, भवति अर्थमें क्रियास्वभावता नहीं हो सकता। इसका कारण यह है कि भवति अर्थ तो व्यापाररहित भी वस्तुमें देखा गया है। जैसे भवतिका अर्थ है है अथवा होता है, तो है पना, होना पना यह तो कोई व्यापारको सिद्ध नहीं करता। जैसे कहा —आकाश है, तो है में क्या व्यापार आया? और देवदत्तः करोति, देवदत्त करता है तो करनेमें व्यापार आया ना कुछ तो करना ही रहा। तो भवति अर्थ व्यापाररहित विशेषमें भी पाया जाता है अर्थात् निष्क्रिय पदार्थमें भी अस्ति भवति अर्थ लगता है इसलिए भवति अर्थमें क्रिया स्वभावपना नहीं हो सकता। यदि निष्क्रिय पदार्थमें क्रियास्वभावपना हो जाय तो फिर निष्क्रिय गुण आदिकमें सत्त्वका विनाश होनेसे भवनका भी अभाव हुआ, असत्त्वका प्रसंग आ गया अर्थात् फिर गुण आदिक कुछ न रहेंगे क्योंकि निष्क्रिय ही गुण हो सकता था। इस शंकापर समाधान दिया जाता है कि यह बात यों युक्तिसंगत नहीं कि जो आक्षेप प्रत्याक्षेप इस भवति अर्थमें दे रहे हो वह आक्षेप प्रत्याक्षेप करोति अर्थमें भी लग सकता है। यहां मीमांसकोंका यह कहना है कि करोति अर्थ तो क्रिया सामान्य है। चाहे कोई पूजता हो, पकाता हो, चलता हो, सबमें करना सामान्य पाया जाता है, पर भवति अर्थ क्रिया स्वभाव नहीं बन सकता, क्योंकि भवति अर्थ जब निष्क्रिय पदार्थमें भी पाया जाता है, आकाश है तो उसमें भवति और अस्ति ये तो पाये गए, मगर आकाशमें क्रिया भी है क्या? कोई व्यापार नहीं। तो व्यापार रहित पदार्थोंमें भवति अर्थ पाया जाता है इस कारणसे भवति अर्थमें क्रिया स्वभाव नहीं है, यही इन भट्टोंका कहना है, तो यही बात करोति अर्थमें भी सम्भव है, परिस्पंदात्मक व्यापारसे रहित पदार्थमें भी करोति अर्थका सद्भाव है। जैसे एक प्रयोग किया कि तिष्ठति, वह बैठता है या ठहरता है तो इसको यों भी तो कह सकते कि स्थान करोति, मायने ठहरना कर रहा है और, भी उदाहरण बतावेंगे, पहिले तो इसीमें ही निरख लो, देवदत्त ठहरता है, तो ठहरनेमें व्यापार तो नहीं कुछ। चलने उठने बैठनेमें तो परिस्पंद है, पर गतिनिवृत्ति में ठहरनेमें रुकनेमें तो क्रिया नहीं हो रही। तो इस ठहरता है क्रियाको यों भी कह सकते हैं ना, कि ठहरना करता है, स्थान करोति सो करोति अर्थ तो लग गया अगर

http://sahjanandvarnishastra.org/

क्रिया कुछ नहीं। तो करोति अर्थमें भी क्रिया स्वभावपना न आ सका। और भी देखिये गुण आदिक पदार्थमें भी कथंचित् करोत्यर्थ है, क्योंकि गुणादिकोंमें करोत्यर्थ का अभाव माननेपर सर्वथा उसमें कारकत्वका अभाव होनेसे वे अवस्तु बन जायेंगे। आप तो यह मानते हो कि करोत्यर्थ सबमें है मगर गुणमें कहाँ करोत्यर्थ है? गुण तो है। कर्ममें ही तो क्रिया है। गुणमें क्या क्रिया? लेकिन यह तो विचारिये कि जिसमें अर्थ क्रिया नहीं होती वह अवस्तु है यदि करोति अर्थ न रहा तो फिर वह कारक भी न रहा, तब वस्तु भी न रही।

करोत्यर्थमें सामान्यपना सिद्ध करनेके सम्बन्धमें शंका व उसका समाधान—अब भट्ट कहते हैं कि इसी कारणसे तो यह सिद्ध किया जा रहा कि करोति अर्थ व्यापक है क्योंकि विद्यमान वस्तुमें सभी पदार्थोंमें करोति अर्थका सद्भाव है। अन्यथा अर्थात् करोत्यर्थका किसीमें सद्भाव न हो तो उस वस्तुमें अकारकपना आ गया। जब अवस्तु बन गया तब उसमें भवनपन भी न बन सकेगा। अर्थ क्रियाकारिता के बिना सत्त्व कहाँ ठहर सकता है? भवन क्रिया अर्थात् महा सत्ता आदिकका व्यवहार देखनेसे भी यह सिद्ध होता कि सत्ता तो करोति अर्थका विशेषण ही है। तब करोति अर्थमें ही सर्वत्र प्रधानता होनेसे वाक्यार्थपना आता है। तभी तो कह रहे हैं कि करोति अर्थ सर्वत्र व्यापक है। भट्टकी इस शंकापर उत्तर देते हैं कि यह बात युक्तिसंगत नहीं है क्योंकि करोति सामान्य कोई नित्य है, एक है अनंश है, सर्वगत है इस सम्बन्धमें विचार करनेपर ऐसा कुछ भी सिद्ध नहीं होता। और नित्य एक निरंश सर्वगत सिद्ध हुए बिना सामान्य नहीं माना जा सकता।

भट्टद्वारा करोति सामान्यकी नित्यता सिद्ध करनेका प्रयास व उसका निराकरण—यदि कहो कि करोति अर्थ सामान्य नित्य तो है क्योंकि वह करोति अर्थ सामान्य प्रत्यभिज्ञायमान है, अर्थात् प्रत्यभिज्ञान द्वारा ज्ञेय हो रहा है शब्दकी तरह। जैसे—यह शब्द वही है जो कल बोला था। शब्दमें प्रत्यभिज्ञान चलता है। तो उस प्रत्यभिज्ञानके बलपर शब्द नित्य कहा जाता है इसी प्रकार यह करोति अर्थ सामान्य भी प्रत्यभिज्ञायमान है इस कारणसे वह भी नित्य है तो उत्तरमें कहते हैं कि यह बात सिद्ध नहीं होती, क्योंकि वहाँ हेतुमें विरुद्धता आती है जो सर्वथा नित्य माना जाय उसमें प्रत्यभिज्ञान नहीं बन सकता, कथंचित् नित्यमें ही प्रत्यभिज्ञानपना बन सकता है, सो कथंचित् नित्य मानना यह मीमांसक सिद्धान्तके विपरीत है। वहां तो सर्वथा नित्यकी ही प्रतिष्ठा की गई है। स्याद्वादका आश्रय तो नहीं। तो सर्वथा नित्यमें प्रत्यभिज्ञानकी गति नहीं होती। जैसे प्रत्यभिज्ञानका प्रयोग हुआ कि यह वही देवदत्त है जिसे गतवर्ष देखा था। तो देवदत्त यदि सर्वथा नित्य हो तो भी प्रत्यभिज्ञान नहीं बनता सर्वथा अनित्य हो तो भी प्रत्यभिज्ञान नहीं बनता। यह है तो वही जो गतवर्ष था और अब है। यों तो है नित्यता, परन्तु गतवर्षमें किस रूप वह था और किस

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

रूपसे ज्ञानमें आ रहा था आज उसका अन्वयरूप है तत् और इदके द्वारा ज्ञेयोंमें कथंचित् भिन्नता है। सो यह प्रत्यभिज्ञान प्रमाण वहीं लग सकता है जो कथंचित् नित्य हो। यदि करोति क्रिया सामान्यको कथंचित् नित्य भी नहीं मानते हो तो वह हेतु विरुद्ध है, सर्वथा नित्य पदार्थमें प्रत्यभिज्ञान प्रमाणका लगाव नहीं हो सकता है क्योंकि एकत्व प्रत्यभिज्ञानकी सकल यह है कि वह ही यह है जो वहाँ पूर्वपर्याय और उत्तर पर्यायमें व्यापी एक पदार्थमें ही तो कोई ज्ञान बना। यदि पूर्व उत्तर पर्याय न हो तो एकत्व कहाँ ठहरे, एकत्व न हो तो "तदेवेदम्" इस तरह वह और यहका वाच्य भी नहीं आ सकता है। तब प्रत्यभिज्ञान होता ही वहाँ है जहाँ कथंचित् नित्यपना हो। यहाँ यह सुझाव नहीं चल सकता कि ज्ञान ही पूर्वापरिभूत है पहिले ज्ञान था, अब आजका यह नया ज्ञान है तो ज्ञानमें पूर्वापर बन जाय। पदार्थको पूर्वापर माननेकी जरूरत तो नहीं हैं। ज्ञानगत धर्म पूर्वापरभूत है। पूर्व वर्षका ज्ञान तब था, अबका ज्ञान अब है और इन ज्ञानोंके मेलोंमें प्रत्यभिज्ञान बन जायगा, सो यह सुझाव नहीं चल सकता, क्योंकि पूर्वापर पर्याय रहित वस्तुमें पूर्वापर ज्ञानका विषयपना होना असम्भव है, वही वस्तु पहिले थी और वही वस्तु अब है। तो जब पूर्व और अपर ऐसे दो परिणमन वहाँ बने तब जाकर प्रत्यभिज्ञान बनेगा।

पूर्वापरभूत धर्ममात्रमें प्रत्यभिज्ञानकी अगति—यहाँ भट्ट पुनः शंका करता है कि तब तो फिर धर्मको ही पूर्वापरभूत मान लीजिए। ज्ञान धर्म या जो वस्तुमें समझमें आया हो वह धर्म पूर्व और अपर कालमें है। यों मान लीजिए। धर्म सामान्य मत मानो। यदि ऐसा सुझाव रखते हो तब यह बतलावो कि वह ही यह है ऐसी अभेद प्रतीति कैसे हो जायगी? अगर स्वतंत्र स्वतंत्र ही धर्म पहिले और अब ऐसे दो हैं तो उनमें यह जुड़ाव कैसे बनेगा कि वह ही यह है, क्योंकि जो पूर्व और अपर स्वरूप है वह अतीत और वर्तमान है। तो इन दो रूपोंमें तत्स्वभावसे तो अतीत स्वरूप को छुवा गया याने वह स्मरण ज्ञानके द्वारा छुवा गया अर्थात् जाना गया और इदं इस शब्दसे जो कि वर्तमानका उल्लेख कर रहा ऐसे प्रत्यक्ष ज्ञानसे इदं जाना गया। किन्तु यदि विषयमें आये हुए पूर्व और अपर पदार्थमें धर्ममें परस्पर भेद हो गया तब फिर अभेदकी प्रतीति कैसे होगी? इस कारण धर्म ही पूर्वापर भूत नहीं किन्तु धर्म सामान्य द्रव्यत्वसे टसी हुई वह पर्याय है और तब प्रत्यभिज्ञान बनता है।

करोति सामान्यको कथंचित् भिन्न अभिन्न मानकर प्रत्यभिज्ञानका विषय बनानेपर करोति सामान्यके सर्वथा नित्यत्वके सिद्धान्तका विघात—अब यहाँ भट्ट मीमांसक कह रहे हैं कि एक करोति सामान्यसे ही करोति सामान्यके पूर्व और अपरभूत धर्मोंमें कथंचित् भेद और अभेदकी प्रतीति होती है अतएव उसमें प्रत्यभिज्ञानपना बन जायगा। इसपर उत्तर देते हैं कि इस तरह कथंचित् भेद और अभेदकी प्रतीति बतानेसे यह सिद्ध हो गया कि करोति सामान्यमें कथंचित् अनित्यपना

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

है क्योंकि अनित्य स्वधर्मसे अभिन्न होनेसे करोति सामान्य भी अनित्य सिद्ध हो जाता है। यहाँ करोति सामान्यके पूर्व और अपरभूत धर्मोंमें कथंचित् भेद और अभेद मानते हैं तो जो अनित्य धर्मसे अभिन्न हो वह तो अनित्य ही कहलायेगा। अनित्यसे अभिन्नको नित्य ही कहना अयुक्त है अनित्यके स्वात्माकी तरह। अर्थात् अनित्यका स्वरूप अनित्यसे अभिन्न है सो स्वरूप भी अनित्य हुआ क्योंकि अनित्यके धर्मको नित्य नहीं कहा जा सकता है। यों ही करोति सामान्यका पूर्वापर धर्म अनित्य है सो अनित्य धर्मसे अभिन्न होनेके कारण करोति सामान्य भी अनित्य है, साथ ही यह भी विचारिये कि कोई यदि सर्वथा नित्य हो तो उसमें न तो क्रमसे अर्थ क्रिया बन सकती है और न एक साथ अर्थक्रिया बन सकती है। नित्यमें यदि क्रमसे अर्थक्रिया मानी जाय तो वह नित्य क्या रहा क्योंकि उसमें समय समयमें अनेक रूप होते जा रहे हैं और नित्यमें यदि एक साथ अर्थक्रिया माना जाय तो त्रिकालमें जितने भी परिणमन हैं वे सब परिणमन एक साथ क्यों नहीं हो जाते ? तो सर्वथा नित्य वस्तुमें न तो क्रमसे अर्थ क्रिया बनती है और न एक साथ ही अर्थ क्रिया बनती है, इस तरह वह सामान्य अनित्य सिद्ध हुआ। प्रयोग भी है कि वह सामान्य अनित्य है क्योंकि पर्यायार्थिकनयसे भेद कथन होनेसे, शब्दकी तरह। जैसे शब्द पर्याय दृष्टिसे भेदरूप है और अनित्य है उस ही प्रकार अर्थ सामान्य भी अनित्य है। तथा इसी विधिसे करोति सामान्य अनेक भी हैं शब्दकी तरह।

करोति सामान्यके एकत्वकी मीमांसा—अब यहाँ भट्ट कहता है कि करोति इस प्रकारके स्व प्रत्ययकी अविशेषता होनेसे अर्थात् सभी व्यक्तियोंमें याने क्रियाविशेषोंमें करोति अर्थकी समानता होनेसे करोति सामान्य एक ही है और सद्भूत है। यों स्वप्रत्ययकी अविशेषतासे जैसे एक सत्ता सामान्य एक है क्योंकि सबमें सत् सत् समानरूपसे प्रत्यय होता रहता है। तो सबमें सत् सामान्यका बोध होनेसे वह सत् एक है। इसी प्रकार करोति सामान्य भी सर्वत्र करोति अर्थके प्रत्ययकी अविशेषता होनेसे एक सिद्ध हो जायगा। इस शंकापर उत्तर देते हैं कि यह बात यों युक्तिसंगत नहीं है कि हेतुकी याने स्वप्रत्ययकी अविशेषताकी सिद्धिका कोई प्रमाण नहीं है अर्थात् करोति सामान्यमें स्वप्रत्ययकी अविशेषता है यह बात असिद्ध है। इसका कारण यह है कि पर्यायार्थिक नयसे भेदका भी तो कथन होता है। करोति अर्थकी व्यक्तिके प्रति करोति इस प्रत्ययकी विशेषता होनेसे अर्थात् घटको करता है, पटको करता है, इस तरह करनेमें भी तो भेद होनेसे वहाँ करोति प्रत्ययकी अविशेषता तो न रही। जैसे प्रत्येक पदार्थ अपनी आवान्तर सत्तासे है तो प्रति व्यक्तिमें सत् सत् जो प्रत्यय हो रहा है सो उसके स्वरूपसे वह सत् जैसा है वैसा अन्यके स्वरूपका सत् तो नहीं है। तो प्रतिव्यक्तिमें भी सत् प्रत्ययकी विशेषता पाई जा रही है। यों ही प्रत्येक क्रियामें करोति प्रत्ययकी विशेषता पाई जा रही है। घटका करना, पटका करना ये सब करने की विशेषतायें हैं। यदि कहो कि वे भिन्न-भिन्न घटकरण पटकरण आदिक व्यक्ति विषयक जो करोति अर्थ है वह तो विशेष प्रत्यय है। हम तो करोति सामान्यकी बात

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

कह रहे हैं कि करोति सामान्य एक है। करोति विशेष प्रत्यय भले ही अनेक बने रहें. पर इससे करोति सामान्यकी एकताका घात नहीं होता है। तो उसके उत्तरमें कहते हैं कि फिर तो घट-पट आदिक रूप पदार्थ व्यक्तियाँ सामान्यसे सर्वथा यदि भिन्न कहा जाते हैं तब तो इसमें यौग मतका प्रवेश हो गया। योग उन घट पट आदिको करोति सामान्यसे सर्वथा भिन्न मानते हैं सो यह प्रसंग मीमांसकोंके आयगा। यदि उस सामान्यसे व्यक्तियोंको कथंचित् अभिन्न मानते हो तब तो सिद्ध हो गया कि सामान्य विशेष प्रत्ययका विषयभूत है क्योंकि विशेष प्रत्ययके विषयभूत विशेषोंसे सामान्यको कथंचित् अभिन्न मान लिया गया है तो कथंचित् विशेषोंसे जो अभिन्न है ऐसे सामान्योंमें विशेष प्रत्ययकी विषयता बन ही जाती है। जैसे कि विशेषका स्वरूप विशेषसे अभिन्न है तो वह विशेष प्रत्ययका विषयभूत होता ही है। इससे सिद्ध हुआ कि करोति सामान्य अनेक ही है, जितने विशेष हैं उतने ही सामान्य होते हैं। यों करोति सामान्य एक न रह सका। करनेकी जितनी विशेषतायें हैं, जितने प्रकार हैं उतने ही प्रकारके करोति सामान्य बन जायेंगे सत्ता सामान्यकी तरह। जैसे जितने व्यक्ति हैं, पदार्थ हैं उतने ही वे सत् कहलायेंगे। तब करोति सामान्य एक है यह सिद्ध न हो सका। जब करोति सामान्य न नित्य सिद्ध हुआ, न एक सिद्ध हुआ फिर इसमें सामान्यपना कैसे रह सकता है? जो एक हो, नित्य हो, अनंश हो, सर्वव्यापक हो वही तो नित्य कहा जा सकता है। तो करोत्यर्थकी नित्यता और एकता तो रही नहीं।

करोतिसामान्यकी अनंशताकी मीमांसा—अब करोत्यर्थ सामान्यकी अनंशतापर विचार किजिए। करोति सामान्य अनंश भी नहीं है क्योंकि उसमें कथंचित् सांशपनेकी प्रतीति हो रही है। देखिये! जो अवयव सहित घट पट आदिक हैं, जो कि प्रकट भिन्न-भिन्न हैं उनसे अभिन्न है वह सामान्य। तो जो अवयवोंसे अभिन्न हो वह भी तो अवयवके धर्मरूप बनेगा। घट सामान्य विशेषोंसे भिन्न तो नहीं है। करोति सामान्य जो घट पट आदिक किये जा रहे हैं उन घट पटोंसे भिन्न तो नहीं है, किया जाता तो करोति सामान्य सावयव घट पट आदिकसे अभिन्न होनेके कारण करोति सामान्यमें भी सांशता आ गयी, भेद आ गया घट पट आदिकके स्वरूपकी तरह जैसे घट पट सावयव हैं तो बताओ घट पटका स्वरूप सावयव है या नहीं? वह भी सावयव है क्योंकि घट पटका स्वरूप सावयव घट पटसे कहीं अलग नहीं है। तो इस तरह करोति सामान्यमें अंशता भी सिद्ध नहीं होती। जब करोति सामान्य सावयव हो गया तो जो सावयव है वह सामान्यरूप नहीं हो सकता। तो यों करोति सामान्यरूप न रह सका।

करोतिसामान्यकी सर्वगतताकी मीमांसा— अब करोति सामान्यकी सर्वगतता पर विचार कीजिए! करोति सामान्य सर्वगत भी नहीं है क्योंकि घट पट आदिक क्रियमाण व्यक्तियोंके अन्तरालमें पाया नहीं जाता। जो पदार्थ किए जा रहे हैं

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

वे पदार्थ जहाँ जहाँ ठहरे हैं। उनके बीचमें अन्तराल भी है, घट इस कमरेमें किया जा रहा है तो पट उस कमरेके दूसरे कोनेमें किया जा रहा है। तो करोति सामान्य यदि सर्वव्यापक होता तो बीचमें भी करोति सामान्य पाया जाना चाहिये था। जैसे आकाश सर्वव्यापक है तो सब जगह पाया जाता है। उसका कहीं अन्तराल नहीं है। यदि करोति सामान्य सर्वव्यापक होता तो दुनियामें जितने भी पदार्थ क्रियावान हो रहे हैं उन पदार्थोंके स्वक्षेत्रमें ही करोति क्यों रह रहा है ? अन्तरालमें क्यों नहीं पाया जाता ? तो घट पट आदिक व्यक्तियोंके अन्तरालमें न पाया जानेसे करोति सामान्य सर्वगत भी नहीं सिद्ध होता। यहाँ भट्ट कहते हैं कि करोति सामान्य है तो सर्वगत, पर अन्तरालमें अभिव्यक्त न होनेसे उसकी उपलब्धि नहीं होती है, अर्थात् करोति सामान्य सब जगह है। यहाँ घट बन रहा है और दूसरे कमरेमें पट बन रहा है तो करोति सामान्य तो सब जगह है पर उस बीचमें व्यक्त नहीं हो रहा है करोति सामान्य, तो अव्यक्त होनेके कारण करोति सामान्यकी घट पट आदिक व्यक्तियोंके अन्तरालमें उपलब्धि नहीं होती है। इसपर उत्तर देते हैं कि फिर तो उस ही कारण अर्थात् अनभिव्यक्ति होनेसे व्यक्तिकी स्वात्माका भी अनुपलम्भ हो जाय। हम घट पट आदिक विशेष पदार्थोंके स्वरूपमें भी यह कह डालेंगे कि ये घट पट आदिक व्यक्तिगत पदार्थ भी सर्वगत हैं। सब जगह ठसाठस एकरूपसे मौजूद हैं लेकिन अंतरालमें उन पदार्थोंकी अभिव्यक्ति नहीं है इस कारण वे उपलब्ध नहीं होते और यों हम इन सब पदार्थोंमें भी सर्वगतपना सिद्ध कर डालेंगे लेकिन ऐसा तो स्वीकार नहीं किया जा सकता है। तो जैसे घट पट आदिक पदार्थोंको अन्तरालमें नहीं माना जा सकता है इसी तरह घट पट आदिक व्यक्त पदार्थोंके आश्रय जो क्रियमाणता हो रही है, करोति अर्थ उपयुक्त हो रहा है वह करोति सामान्य भी उन व्यक्तियोंको छोड़कर व्यक्तियोंके अंतरालमें नहीं सिद्ध हो सकता है। जहाँ पदार्थ किये जा रहे हैं जिन क्षेत्रोंमें, जिन अपने अवयवोंमें पदार्थमें अर्थक्रिया बन रही है उसमें ही करोति सामान्य जाना जा सकता है बाहर नहीं। तो इस तरह करोति सामान्य सर्वव्यापक सिद्ध न हो सका तो वह सामान्य भी नहीं बन सकता है।

व्यक्त्यन्यरालमें विशेषवत् सामान्यके सद्भावकी असिद्धि निवारण करनेका शंकाकारका असफल प्रयास—अब यहाँ भट्ट मीमांसक कहता है कि अन्तरालमें व्यक्तियोंका याने बीचके रिक्त स्थानमें पदार्थ विशेषका सद्भाव सिद्ध करने वाला कोई प्रमाण नहीं है। इस कारण व्यक्तिके अन्तरालमें व्यक्तिका असत्त्व होनेके ही कारण अनुपलब्धि है, अभिव्यक्ति न होनेसे अनुपलब्धि है, यह बात नहीं है। इसके उत्तरमें कहते हैं कि इस तरह फिर सामान्यका भी सद्भाव बताने वाला प्रमाण नहीं है इस कारण असत्त्व होनेसे ही व्यक्तियोंके अन्तरालमें सामान्यकी अनुपलब्धि बनेगी, क्योंकि जो बात व्यक्ति विशेषमें कह रहे हो, व्यक्तिके अन्तरालमें असत्त्व सिद्ध करनेके लिए वह ही बात सामान्यके सम्बन्धमें भी लगेगी, अर्थात् घट पट आदिक जो वस्तु-

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

भून पदार्थ हैं व्यक्ति हैं उनके अन्तरालमें सामान्यकाभी सद्भाव सिद्ध करने वाला प्रमाण न होनेसे उसकी अनुपलब्धि सिद्ध होती है। और, प्रत्यक्षसे भी ऐसा अनुभव नही होता कि व्यक्तिके मध्यमें कोई सामान्यका सत्त्व है जैसे खरविषाण असत् है इसीप्रकार व्यक्तियोंको छोड़कर व्यक्तिके बीचमें सामान्य असत है। यहाँ यह प्रसंग छिड़ा है कि जैसे१००गायें हैं। अब वे गायें मान लो २, ३, ४, खेतोंमें खड़ी हैं, अब जो खड़ी हैं वे गायें तो गाय विशेष कहलाती हैं और उन सब गायोंमें यह भी गाय है, यह भी गाय है इस प्रकारका जो बोध होता है जिस गोत्वकी सदृशतासे, वह कहलाता है गोत्व सामान्य। तो मीमांसक सामान्यको व्यापक मानते हैं व एक मानते हैं, सामान्य एक है और सर्वव्यापक है। तो यहाँ यह पूछा जा रहा है कि सामान्य यदि सर्वव्यापक है तो जो गायें खड़ी हुई हैं उनमें एक गाय और दूसरी गायके बीचमें जो जगह पड़ी है, जहाँ कोई गाय नहीं है वहाँ भी गोत्व सामान्य होना चाहिए, पर वहाँ तो नहीं है गोत्व सामान्य। गायमें ही गाय सामान्य पाया जाता है। इसपर मीमाँसकोंने यह कहा था कि गोत्व सामान्य तो बीचमें भी सब जगह एक पड़ा है मगर प्रकट नहीं हो पा रहा है इसलिए असत् है। तो यों तो यह भी कहा जा सकता है कि कोई व्यक्ति भी सब जगह भरे पड़े हैं, पर बीचमें प्रकट नहीं हो रहे इसलिए नहीं दीखते। इसपर मीमांसकोंने यह कहा है कि गाय व्यक्ति विशेष तो अन्तरालमें असत् ही है इसलिए अनुपलब्धि है। तो यही बात गोत्व सामान्यके लिए भी है कि गायें खड़ी हैं वहाँ अन्तरालमें गोत्व सामान्य असत् है इसलिए गोत्व सामान्यकी उपलब्धि नहीं है। ऐसा नहीं है कि गोत्व सामान्य हो और अभिव्यक्ति नहीं है इस कारण उपलब्धि है। प्रत्यक्षसे भी ऐसा अनुभव नहीं होता कि व्यक्तिके अन्तरालमें सामान्य सत्त्वरूपसे पाया जाता है।

व्यक्त्यन्तरालमें सामान्यका सद्भाव सिद्ध करनेके लिये शंकाकार द्वारा प्रस्तुत अनुमान - अब यहाँ शंकाकार कहते हैं कि उन व्यक्तियोंके अन्तरालमें सामान्य है, यह बात अनुमान प्रमाणसे सिद्ध होती है। प्रयोग है कि व्यक्तियोंके अन्तरालमें सामान्य है क्योंकि एक साथ भिन्न देशमें अपने आधारमें रहते हुए भी एक होनेसे, बाँसकी तरह। जैसे १० खम्भोंपर एक बाँस पड़ा हुआ है तो यह बाँस एक है क्योंकि एक साथ भिन्न देशमें रह रहा है लेकिन अपने ही आधारमें रह रहा है और एक है। इसी तरह सामान्य भी एक साथ भिन्न देशमें रह रहा है, पर वह अपने ही आधारमें रह रहा है और एक है इस कारणसे व्यक्तियोंके, वस्तुवोंके अन्तरालमें भी सामान्य बराबर मौजूद है। इस अनुमानसे तो सब जगह सामान्यके सद्भावकी सिद्धि हो जायगी और देखिये हमने इस अनुमानमें जो हेतु दिया है वह कितना पुष्ट है। यदि हम हेतुके विशेषणको न देकर केवल इतना ही कहते कि व्यक्तियोंके अंतरालमें सामान्य है एकपना होनेसे तो इतना कहनेपर किसी भी एक वस्तुके पुरुषके जैसे मानो देवदत्त नामका ही पुरुष है, उसीके साथ व्यभिचार हो जायगा, क्योंकि एक तो वह भी है

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

और जो एक हो वह व्यक्तिके अन्तरालमें होना चाहिए। तो इस व्यभिचारके परिहार के लिए हेतुमें हमने यह विशेषण दिया है कि अपने आधारमें रहता हो स्वाधार वृत्तिपना हो, अब आगे देखिये! यदि हम इतना भी हेतु दें कि व्यक्तिके अन्तरालमें सामान्य है, क्योंकि अपने आधारमें रहते हुए वह एक है तो हेतुका इतना रूप बनानेपर भी एक वस्त्रपर बैठे हुए उस देवदत्तके ही साथ व्यभिचार हो जाता है। अर्थात् वह देवदत्त अपने ही आधारमें बैठा हुआ है और एक है तो वह भी व्यक्तिके अन्तरालमें सद्भूत सिद्ध हो जाता है सो उस व्यभिचारकी निवृत्तिके लिए भिन्न देश विशेषण दिया है कि व्यक्तिके अन्तरालमें सामान्य है, क्योंकि भिन्न देशमें अपने ही आधारमें रहकर एक होनेसे। तो वह देवदत्त भिन्न देशमें तो नहीं रह रहा इस कारण देवदत्तके साथ हमारे हेतुका व्यभिचार न होगा। अब और भी सुनो! यदि हमने हेतुमें ये दो विशेषण ही दे दिया कि व्यक्तिके अन्तरालमें सामान्य है क्योंकि भिन्न देशमें अपने ही आधारमें रहकर एक होनेसे तो इतना कहनेपर व्यभिचार आता है कि वही देवदत्त क्रमसे अनेक आसनों पर बैठ जाय तो वह देवदत्त भी देखिये भिन्न देशमें और स्वके ही आधारमें रहकर एक है ना, तो वहाँ पर भी साध्य घटित हो जाना चाहिए। सो उस व्यभिचारके दूर करनेके लिए हेतुमें युगपत् यह विशेषण दिया है तो अब हेतुका अन्तिम समर्थरूप यह हुआ कि व्यक्तिके अन्तरालमें सामान्य है क्योंकि एक साथ भिन्न देशमें अपने ही आधार में रहता हुआ वह एक है तो इस हेतुसे व्यक्तिके अन्तरालमें सामान्यकी सिद्धि हो जाती है।

व्यक्त्यन्तरालमें सामान्यका सद्भाव सिद्ध करनेके लिये दिये गये हेतुकी असिद्धि—उक्त शंकाकार उत्तर देते हैं कि इस तरह अपने मन-माफिक कुछ भी कहने लगना यह तो अपने घरकी बात है, पर युक्तिसंगत नहीं हो सकती, क्योंकि आपके द्वारा दिये गए हेतुको प्रतिवादी तो नहीं मानता। स्याद्वादी और अन्य सिद्धान्तके लोग भी सामान्यका एकत्व स्वीकार नहीं करते। तो जब हेतु ही प्रतिवादी नहीं मान रहा तब फिर हेतुका विशेषण देकर सोचना और उसमें अपने मन चाहे साध्यकी सिद्धि करना यह कैसे युक्त होगा? और भी देखिये! जिस तरह कि उन पोर आदिकमें अथवा दो तीन खम्भे खड़े हैं उन खम्भोंपर एक बाँस रखा है तो उस घटनामें उन अनेक खम्भोंकी जगहमें जैसे वह बाँस एक है, यह प्रतीत होता है, इस तरह भिन्न देश में रहने वाले व्यक्तियोंमें सामान्य एक है यह बात प्रतीत नहीं होती। जिससे कि फिर आप जो अपना हेतु दिये जाते हैं कि एक साथ भिन्न देशमें अपने ही आधारमें रहकर एकत्व है वह सामान्यको सिद्ध करता हुआ अपने आधारके अन्तरालमें अस्तित्वको सिद्ध कर सके। अतः उक्त अनुमान देना, हेतु बताना सब असंगत है। देखिये! प्रत्येक व्यक्तिमें सदृश परिणमनरूप सामान्यका भेद पाया जाता है अर्थात् सदृश परिणमन हो तो सामान्य है और वह सामान्य व्यक्तिमें ही पाया जा रहा है। व्यक्तिको छोड़कर अन्य जगह नहीं है। जैसे एक गाय खेत पर खड़ी है बीचमें एक गाय खड़ी है। और

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

तीसरे खेतपर एक गाय खड़ी है, तो अब गाय सामान्यपना उन दोनों गायोंमें पाया जा रहा है मगर जितने निज निज क्षेत्रमें भी गायें हैं उतने ही क्षेत्रमें वह सामान्य है न कि बीचके खेत में भी गोत्व सामान्य पड़ा हो, सारी दुनियामें वह गोत्व सामान्य व्यापक हो ऐसा नहीं है। तो प्रत्येक व्यक्तियोंमें सदृश परिणामरूप सामान्य भिन्न-भिन्न रूपसे पाया जाता है जैसे कि प्रत्येक व्यक्तिमें विसदृश परिणामरूप विशेष भिन्न-भिन्न रूपमें पाया जाता है गोत्व सामान्य और गौ विशेष—गौ विशेष भी तो जितनी गौवें हैं और उनका आकार, क्षेत्र, प्रकार है उतनेमें ही तो पाया जा रहा है, सो इसी तरह गोत्व सामान्य भी जहाँ जितनेमें गौ है उतनेमें ही तो पाया जाता है, सामान्य हुआ सदृश परिणामरूप। और विशेष हुआ विसदृश परिणामरूप। तो सदृश परिणाम भी प्रतिव्यक्तिमें भी है, व्यक्तिके अन्तरालमें नहीं है और विसदृश परिणाम भी प्रत्येक व्यक्तिमें है। व्यक्तिके अन्तरालमें नहीं है।

विशेषकी तरह सामान्य भी व्यक्त्यन्तरालमें न पाया जानेसे सामान्यकी सर्वगतताकी असिद्धि—विशेषकी तरह सामान्य भी पदार्थके अन्तरालमें नहीं है इस बातको अब स्पष्टरूपसे समझिये कि जैसे ही कोई व्यक्ति घट पट आदिक रूप कुछभी पदार्थ जो उपलभ्यमान है वह मुकुट आदिक पदार्थोंसे भिन्न है और ऐसी भिन्नता विसदृश परिणामके देखनेसे बिल्कुल युक्त प्रमाणित होती है उस ही तरह सदृश परिणमन देखनेसे कोई वस्तु किसी वस्तुके समान है इस प्रकारका निश्चय होता है सो यह भी बाधारहित ही है। जैसे कि घट पट मुकुट आदिक अनेक पदार्थोंमें भिन्नता समझमें आती है ना। घट है सो मुकुट नहीं मुकुट है सो घट नहीं। तो यह विशिष्ट भिन्नता क्यों समझमें आ रही कि उन दोनोंका परिणाम आकार विसदृश है। मुकुटका ढंग और है और घटका पटका ढंग आकार और है ऐसा विसदृश परिणाम देखनेसे वह व्यक्ति याने पदार्थ अपने ही क्षेत्रमें है, व्यक्तिके अन्तरालमें नहीं है और उसकी सिद्धि विसदृश परिणाम देखनेसे होता है। यही बात सामान्यके अवबोधमें है, बहुत सी गायें खड़ी हैं, तो उनमें सदृश परिणमन देखनेसे ये कई गायें एक दूसरी गायोंके समान हैं, ऐसा वहाँ जो निश्चय हो रहा है वह भी बाधारहित है और उससे फिर यह ज्ञात होता है कि यह उसके समान है, वह उसके समान है, ऐसा जो समानताका बोध होता है उसे ही तो सामान्यका प्रतिभास कहते हैं चाहे समानता कहो चाहे सामान्य कहो, समानके भावको सामान्य कहते हैं और समानके भावको समानता कहते हैं तो सामान्य और विशेष दोनोंकी स्थिति समान है। सामान्य तो है सदृश परिणमनके देखनेके आधारपर और विशेष है विसदृश परिणमनके देखनेके आधारपर। सो जैसे विशेष व्यक्तियोंके अन्तरालमें नहीं है उसी तरह सामान्य भी व्यक्तियोंके अन्तरालमें नहीं है। और, जब सामान्य इस तरह सर्वगत न बन सका तो जिस प्रकरणमें करोति सामान्यको सब क्रिया विशेषोंमें व्यापी सिद्ध कर रहे थे उस प्रकार करोति सामान्य भी व्यापक न बन सकेगा।

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

व्यक्त्यन्तरकी जानकारी न करने वाले पुरुषको एक पदार्थके देखनेपर समानता ज्ञान न होनेके कथनकी पृच्छनापर विसदृशतामें अविशेष उत्तर— जैसे कि घट पट आदिक कोई पदार्थ उपलब्ध हो तो वह अन्य पदार्थोंसे तो विशिष्ट है अर्थात् भिन्न है, यह बात कैसे जानी ? यों कि उसका अन्य पदार्थोंसे विसदृश परिणमन देखा गया। तो जैसे विसदृश परिणमन देखनेसे अन्य व्यक्तियोंसे भिन्न कोई पदार्थ उपलभ्यमान ज्ञात होता है उसी प्रकार सदृश परिणमन देखनेसे कोई पदार्थ किसी पदार्थके समान है ऐसा निश्चय होता है, क्योंकि वहाँपर यह उसके समान है वह उसके समान है, ऐसा समानताका बोध होता है, इस कथनपर अब यहां भट्ट शंकाकार कहता है कि यह तो बताओ कि जिस पुरुषने पहिले किसी अन्य पदार्थका अनुभव नहीं किया उसको एक ही पदार्थके देखनेपर समानताका ज्ञान क्यों नहीं होता ? क्योंकि सदृश परिणमनका सद्भाव तो सदा ही है। जैसे कि एक बालकने रोझको कभी नहीं देखा नहीं जाना, अब उस गायके देखनेपर ऐसा ज्ञान क्यों नहीं होता कि यह गाय रोझके समान है क्योंकि सदृश परिणमन तो सदैव गायोंमें रह रहा। जैसा रोझ होता है उसी प्रकारका परिणमन गायमें तो सदैव है ना, फिर उसे क्यों नहीं बोध होता ? इस शंकापर समाधान दिया जाता है कि फिर यह तुम बताओ कि तुम्हारे यहाँ भी जिस पुरुषने किसी अन्य वस्तुको नहीं जाना है उसको एक वस्तुके देखनेपर यह उससे विलक्षण है, ऐसा ज्ञान क्यों नहीं होता ? जैसे कि किसीने भैंसको देखा ही नहीं, उस पुरुषको गायके देखनेपर यह ज्ञान क्यों नहीं होता कि यह गाय भैंससे विलक्षण है क्योंकि वैसादृश्य तो सदा गायमें मौजूद है। जिसने भैंस नहीं देखी उस पुरुषको भी गायमें विसदृशताका बोध हो जाय, क्योंकि विसदृशता गायमें सदा है, कोई जाने या न जाने ?

विसदृशताके बोधकी भांति सदृशताके बोधकी परोपेक्षता—अब भट्ट इसी शंकाका दोष मिटानेके लिये भट्ट कहता है कि बात यह है कि विसदृशताका बोध तो परकी अपेक्षा रखता है। जब वह भैंसको जाने तब ही तो यह ज्ञान कर सकेगा कि यह गाय भैंससे विलक्षण है। तो वैसादृश्यका ज्ञान परकी अपेक्षा रखता है। इसपर समाधान करते हैं कि तब परापेक्ष होनेसे ही उस एक गायके देखनेसे सादृश्यका ज्ञान भी न होगा। जिस पुरुषने किसी अन्य सदृशको जाना हो नहीं तो उसको एक पदार्थके देखनेपर (जैसे गायके देखनेपर) उसे यह समानताका बोध नहीं होता। यह गाय गायके सदृश है ऐसा सदृशताका बोध होनेका कारण यह है कि सदृशताका बोध परापेक्ष होता है। सदृशताका बोध परापेक्ष न हो ऐसा तो है नहीं, क्योंकि परापेक्षाके बिना कभी भी किसी भी समय सदृशताका बोध नहीं होता। जैसे ये दो केला हैं तो द्वित्व संख्याका ज्ञान परापेक्ष है कि नहीं ? ये केला ७ हैं, यह कब बताया जा सकता जब मन ७ केलोंको इधर उधर करके जाकर गिनती करें, तो जैसे यह द्वित्वादिक संख्या परापेक्ष है तो वह द्वित्वादिकका ज्ञान परापेक्ष है। और जैसे यह दूर है, यह

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

निकट है इस प्रकारका ज्ञान परापेक्ष है इसी प्रकार सदृशताका भी ज्ञान परापेक्ष है।

वस्तुधर्मोंका द्वैविध्य—वस्तुके धर्म दो प्रकारके होते हैं एक परापेक्ष दूसरा परानपेक्ष। जैसे कि रूप, रस, गंध आदिक और मोटा पतला आदिक। इनमे रूप रस गंध आदिक तो परकी अपेक्षा न रखने वाले धर्म हैं। रूपज्ञान, रसज्ञानकी अपेक्षा नहीं रखता। न हो रसका ज्ञान, रूपका ज्ञान हो जाता है। अन्य पदार्थका न भी हो ज्ञान पर जिसके सम्बन्धमें रूपादिक जानने हैं जान लिए जाते हैं। तो रूपादिक धर्म परापेक्ष नहीं हैं तथा मोटा पतला आदिक धर्म ये परापेक्ष हैं। किसी पुरुषको कोई मोटा कब कहेगा, जब उसकी दृष्टिमें कोई अन्य पतला पुरुष हो अथवा उसकी बुद्धमें हो। तो दो प्रकारके धर्म हो गए—एक परापेक्ष एक परानपेक्ष। तो सदृशताका धर्म भी परापेक्ष धर्म है इसी कारण जिस पुरुषने दूसरे सदृशतासे साधत व्यक्त्यन्तरका अनुभव नहीं किया उसको एक व्यक्तिके देखनेपर सदृशताका बोध नहीं होता।

सदृशतमें एकत्वके कथनका हेतु उपचार—अब भट्ट शंकाकार कहता है कि सादृश्य धर्म तो सामान्य है, जैसे सास्ना होना। गाय बैलोंके गलेसे नीचे जो लटकता रहता है उसका नाम सास्ना है। तो सास्ना आदिक होना यह गोत्व सामान्य है। तो सामान्य सादृश्यके होनेपर यह बतलाओ कि चितकबरी गायको देखकर सफेद गायको देखने वाले पुरुषके यह वही गौ है ऐसा ज्ञान कैसे घटित होगा इसके उत्तरमें कहते है कि एकत्वके उपचारसे यह बात घटित हो जायगी। चितकबरीके समान सफेद गाय है ऐसा एकत्वका उपचार करनेसे यह वही गौ है ऐसा ज्ञान हो जाता है। एकत्व दो प्रकारका होता है याने एकपना एक होना यह दो प्रकारसे होता है। एक तो मुख्य और एक उपचरित। मुख्य तो आत्मा आदिक द्रव्योंमें है। जैसे आकाश एक है, यह उपचरित कथन तो नहीं है, यह मुख्य एक है। आत्मा एक है, यह उपचरित कथन तो नहीं है, यह मुख्य एक है। मीमांसक सिद्धान्तमें आत्माको एक माना गया है उसीका ही दृष्टान्त देकर समाधानमें कर रहे हैं। तो कोई तो मुख्य एकत्व होता है और कोई उपचरित एकत्व होता है उपचरित एकत्व सादृश्यमें होता है। जो चीज एक दूसरेके समान हो उसे भी यही कहते कि यह वही है। जैसे एक ही आकारकी, एक ही कम्पनीकी, एक समान अनेक घड़ियां हैं, उनमेंसे किसी घड़ीको देखकर यह कहते कि इसकी और हमारी ये घड़ी एक ही है तो वहाँ उपचरित एकत्व है। अब गोत्व लक्षण तो मुख्य है। और वहाँ चितकबरी और सफेद गायमें मुख्य एकत्व मानने पर फिर यह उसके समान है, यह ज्ञान कैसे हो सकेगा? कोई चितकबरी गायको देखकर यह अन्य गायकी तरह है ऐसा ज्ञान करता है तो वह कैसे हो जायगा! एक ही गाय जातिमें रहने वाली अनेक गायें वस्तुतः एक ही तो हैं, हैं तो समान पर उनमें जो मुख्य एकत्व मान लिया जाय कि सब एक ही है तब फिर उनके सम्बन्धमें यह ज्ञान कैसे हो सकेगा कि यह उसके समान है।

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

सामान्यके सम्बन्धसे एकत्व प्रत्ययहोनेकी असिद्धि—भट्ट कहते हैं कि उस सबल और धवल गायमें एकत्व सामान्यका सम्बन्ध है एक ही गोत्व पाया जाता है इस कारणसे सबल और धवल गायोंमें समानताका बोध हो जायगा। उत्तरमें कहते हैं कि यदि एक सामान्यके सम्बन्धमें उनमें कुछ ज्ञान माना जा सकता है कि ये दोनों सामान्य वाले हैं सबल गाय और धवल गाय। इनमें है गोत्व सामान्यका सम्बन्ध। तो गोत्व सामान्यका सम्बन्ध होनेसे यह ज्ञान बनेगा कि यह सबल गाय गोत्व सामान्य वाली है, धवल गाय गोत्व सामान्य वाली है. पर उनके बारेमें यह उसके समान है ऐसा ज्ञान नहीं बन सकता। और, यदि कहो कि उन सबल और धवल गायोंमें अभेद का उपचार हो जायगा तो अभेदका उपचार होनेपर सामान्य और सामान्य वालेमें यह सामान्य है इस तरहका ज्ञान बनेगा, पर यह ज्ञान न बन सकेगा कि यह उसके समान है। जैसे कोई पुरुष लाठी लिए हुए है तो लाठीके सम्बन्धमें पुरुषमें यदि अभेद उपचार किया जाता है तो यही तो कहा जायगा कि लो अब लाठी आगी। पर यह न कहा जायगा कि यह पुरुष लाठीके समान है। जैसे कोई पुरुष केला बेचने वाला पुरुष केले की आवाज देता जा रहा है तो अब केलेका साहचर्य होनेसे उस पुरुषमें यदि अभेदका उपचार किया जा रहा है तो अब केलेका साहचर्य होनेसे उस पुरुषमें यदि अभेदका उपचार किया जायगा तो कहा जा सकेगा कि केला आवो! यह केला गया, पर यह नहीं कहा जा सकता कि यह पुरुष केलेके समान है।

मृण्मय गायमें गौसादृश्यका सद्भाव अभाव माननेका विवरण—अब शंकाकार कहता है कि अच्छा यह बताओ कि एक मिट्टीकी गाय बनाई। अब वह मिट्टीकी गाय सत्य रोझके समान है। जैसा आकार—प्रकार सत्य रोझका है वैसा ही इस गायका है। अब उस रोझके समान हो गई ना, यह मिट्टीकी गाय! तो इसमें यों सादृश्यकी समानता आ गयी। तो गौ सादृश्य सामान्यके होनेपर उस मिट्टीकी गायमें गोत्व जातिका प्रसंग आ जायगा। लो अब यह मिट्टीकी गाय भी गौ जातिका पदार्थ बन गया। इसके उत्तरमें कहते हैं कि यह बात यों युक्त नहीं है कि सत्य गवय के व्यवहारके कारणभूत सदृशताका उस मिट्टी वाली गायमें अभाव है। यदि मिट्टी वाली गायमें उस सादृश्यका सद्भाव हो तो वह मिट्टी वाली गाय भी सत्य गाय कहलायेगी। रही भाव गौकी बात अथवा परिणाममें यह आया कि यह गौ है और लोग कहते भी हैं कि गौको खरीदो! तो भाव गौकी बात भाव गौ आदिकके साथ जो स्थापना गौ आदिककी सदृशता है वह तो केवल गौ आदिक व्यापारोंका कारणभूत और उस भाव गौके साथ एक जाति है जिसकी ऐसी स्थापना गौके ज्ञानका कारणभूत है सत्वादिक सादृश्यकी तरह। अर्थात् मिट्टीकी गायमें और सचमुचकी गायमें जो सदृशता है वह केवल आकार और एक गौ नाम धारण करनेके लिये है न कि इस सदृशताके कारण मिट्टीकी गायसे भी दूध निकलने लगे। मिट्टीकी गाय, सचमुचकी गायके समान तो है मगर यह समानता किस सीमामें है? एक आकार—प्रकार आदिक

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

देशकी सोमामें है । यह कहीं दूध दुहने जैसी अर्थक्रिया करनेकी सदृशतामें नहीं है ।

करोति सामान्यमें शब्दकी अविषयत्वकी सिद्धि—उक्त प्रकार मीमांसक के द्वारा माने गए स्वभाव सदृशता वाले करोति सामान्यकी उपपत्ति न होगी, जो कि समस्त यजनादिमान क्रियाविशेषमें व्यापकर रहने वाले कर्ताके व्यापाररूप भावनाको बताता हुआ उस वेदवाक्यका विषयभूत हो सके अर्थात् प्रतिपादन कर सके । यदि यह कहो कि प्रतिनियत क्रियामें प्राप्त हुआ अर्थात् करोति क्रियाविशेषमें आया हुआ जो करोति सामान्य है वह है शब्दका विषय तब फिर हम यह कहें तो कौन निवारण कर सकता कि भाई यज्यादिक सामान्य है और वह है शब्दका विषय । इसका कौन निवारण कर सकता है जिससे कि वह यजन सामान्य भी वाक्यका अर्थ न हो जाय । जैसे कहते हो कि श्रुतिवाक्यका अर्थ करोति सामान्य है इसी प्रकार यजन सामान्य वाक्यका अर्थ हो जायगा । तो इस तरह यह भावना वाक्यका अर्थ है ऐसा जो संप्रदाय है, अभिमत है वह सही नहीं है, क्योंकि इसमें बाधक तत्त्वका सद्भाव है, नियोगादिक वाक्यार्थ सम्प्रदायकी तरह ।

श्रुति सम्प्रदायावलम्बियोंमें परस्पर विरुद्ध वचन होनेसे आप्तताका अभाव—श्रुति सम्प्रदायका आलम्बन लेने वालेके मतमें इस ही कारण जो कि उपरोक्त कथनमें कहे हैं कोई सर्वज्ञ नहीं है, ऐसा यदि कहे कोई तो वह अयुक्त बात है । मीमांसकका अभिप्राय यह है कि श्रुति प्रमाणभूत है सर्वज्ञ प्रमाणभूत नहीं है । सो यह बात यों अयुक्त है कि श्रुति, आगम, वेद वाक्य ये सबके लिए एक समान हैं अतएव इनकी अप्रमाणतामें विसंवाद है, क्योंकि परस्पर विरुद्ध अर्थको कहने वाले हैं इसी कारण यह बात बिल्कुल युक्तिसंगत कही गई कि जैसे ही सुगत आदिक परस्पर विरुद्ध क्षणिक नित्य आदिक एकान्त सिद्धान्तके कहने वाले हैं इसी कारण वे शब्द सर्वज्ञ नहीं कहे गए । तो जैसे उनमें कोई सर्वज्ञ नहीं इसी प्रकार ये वेद वाक्य, ये श्रुतिवाक्य भी परस्पर विरुद्ध कार्य अर्थ भावना स्वरूपादिक अर्थके कहने वाले हैं । इस कारण ये श्रुतियाँ भी सब प्रमाणभूत नहीं हैं । इस ही कारण कोई भी श्रुति प्रमाणरूप नहीं हो सकती । और, विचारो तो सही, कोई श्रुति कार्य अर्थमें तो अपौरुषेयी बन जाय अर्थात् उसे तो कहे कि अपौरुषेय वाक्यके द्वारा यही कहा गया और ब्रह्मस्वरूपमें श्रुति अपौरुषेयी न बने, अर्थात् यह उसका अर्थ न कहलाये, यह कैसे माना जा सकता है ? और, तभी अपौरुषेय होनेका हेतु देकर उन अर्थोंमेंसे किसी एक अर्थका ज्ञान कराने वाली श्रुतिको तो प्रमाण मान लो और दूसरेको अप्रमाण मान लो यह कैसे हो सकेगा ? अरे प्रमाण ही तो दोनों हैं किन्तु दोनों प्रमाण हो नहीं सकते क्योंकि उनमें परस्पर विरोध है । अतः तो उनमेंसे कोई एक ही अर्थ प्रमाण रूप ना । जो कि बाधारहित हो, लेकिन दिखता तो यह है कि उन सब अर्थोंमेंसे कोई भी अर्थ बाधारहित नहीं है । हिंसाका वर्णन करने वाले लोगोंका तो यह मत कोई भी प्रमाणरूप नहीं है । भला जैसे

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

वेदवाक्य बोलागया कि जिसको विभूति सम्पन्न बननेकी इच्छा हो वह सफेद बकरा लाये तो इसका मतलब ही क्या ? अथवा धनी पुरुषको मार डाले ऐसे ऐसे भी प्रयोग किए गए हैं जो धर्मके विषयमें प्रमाणरूप नहीं बन सकते हैं, तो ऐसे २ वाक्य हैं। क्या यहाँ तक प्रमाणता आ सकती है ?

श्रुतिकी सबके प्रति समानता होनेपर अन्यतर अर्थको प्रमाण मानने की अयुक्तता उन श्रुति वाक्योंके जितने अर्थ किये जाते हैं वे अर्थ हैं अपूर्वार्थ याने अपूर्व अर्थपना भी समस्त श्रुतियोंमें समानता रूपसे पाया जाता है क्योंकि अन्य प्रमाण से न जाने गए धर्मादिकमें परम ब्रह्मादिकमें प्रवृत्ति होती है, लेकिन देखो कोई श्रुति स्वयं अपने अर्थका प्रतिपादन नहीं करती। अन्य अर्थका व्यवच्छेद कराकर यह कहा कि कार्य अर्थमें हीमैं प्रमाणभूत हूँ ऐसा श्रुतिवाक्य नहीं कहता अथवा स्वरूपार्थमें ही मैं प्रमाणभूत हूँ अन्य अर्थमें नहीं ऐसा कोई श्रुति याने वेद वाक्य स्वयं अपना अर्थ नहीं कहता है। और अन्य योगका व्यवच्छेद भी नहीं करता आदिक। श्रुति तो सब प्रकारके अर्थके निकालनेके लिए एक समान वाक्य है। फिर उस श्रुतिसे यह कैसे सिद्ध किया जा सकता कि इसका अर्थ यही है, अन्य कोई अर्थ नहीं है। तो जब उस श्रुतिमें भावना नियोग विधि अनेक अर्थ निकल रहे हैं तो उन अर्थोंमें कोई ही अर्थ तो प्रमाण भूत हो सकेगा। तो जब परस्पर विरुद्ध धर्म अर्थको बताने वाले वे श्रुतिवाक्य हैं तो उनमें फिर किसीको भी प्रमाणता नहीं दी जा सकती है। जैसे कि क्षणिक नित्य अद्वैत नानात्व आदिक सिद्धान्तका एकान्त करने वाले जितने भी वक्ता हैं उन सबको प्रमाण तो नहीं कहा जा सकता। प्रमाण होते तो उनके वाक्य परस्पर विरुद्ध न होने चाहियें थे। इसी प्रकार यदि श्रुतिवाक्य प्रमाण है तो उसका अर्थ परस्पर विरुद्ध न होना चाहिए था। लेकिन परस्पर विरुद्ध अर्थ हो रहे हैं अतएव श्रुतिवाक्य भी प्रमाण नहीं हैं। यों सिद्ध हुआ कि तीर्थ चलाने वाले या तीर्थ विच्छेद करने वाले सम्प्रदायोंमें तीर्थके नातेसे कोई सर्वज्ञ नहीं हो सकता।

पदोंसे प्रसिद्धार्थकी प्रतिपत्ति होनेसे श्रुतिमें अर्थप्रतिपादकता होनेके कारण श्रुतिकी प्रमाणताका मीमांसकोंका सिद्धान्त —अब यहाँ मीमांसक कहते हैं कि पद लोकमें जिन अर्थोंमें प्रसिद्ध हैं वेदमें भी उन ही अर्थोंमें वे पद प्रसिद्ध हैं। क्योंकि वेदमें उल्लिखित पदोंका अध्याहार प्रकरणसे अर्थकी प्रतिकल्पना करनेकी आवश्यकता नहीं है और न उनकी अलगसे परिभाषा निर्माणकी आवश्यकता है। जैसे कि गणितकी परिभाषायें निश्चित् रहती हैं— बारह मासेका एक तोला आदिक रूपसे तो कुछ व्यवहारकालसे पहिले इस शब्दका यह अर्थ है ऐसा वहाँ संकेत बना हुआ है। अब उसके बाद जो परिभाषण होता है वह व्यवहार निमित्तका कारण है, क्योंकि उसका सब कुछ पहिलेसे ही संकेत निश्चित् है। इसी तरह जिस तरह लोकमें जिन अर्थोंमें जो पद प्रसिद्ध हैं वेदमें भी पद उन्हीं अर्थोंमें प्रसिद्ध हैं। सो जैसे लौकिक पदों

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

का जिन अर्थोंमें परिभाषण होता है उन्हीं अर्थोंमें वैदिक पदोंका भी परिभाषण होता है। इसी अर्थप्रसिद्धताके कारण पद ही अपना अर्थ बता देते हैं। तो जैसे किसीने जिस काव्यको कभी नहीं सुना वह उस काव्यको सुनकर उस वाक्यार्थको जान जाता है उस ही तरह विद्वान पुरुष श्रुतिवाक्यके अर्थको जान जाते हैं, जिसको कभी सुना भी नहीं ऐसे भी वैदिक पदोंको जान सकते हैं। तब यह बात युक्त हुई कि श्रुतिवाक्य अपने अर्थका प्रतिपादन स्वयमेव कर देता है और जो उसका अर्थ नहीं है उन अर्थोंका व्यवच्छेद कर देता है। यहाँ मीमांसकके इस कथनका भाव यह है कि जब उन्हें यह आपत्ति दी गई थी कि वेदवाक्य स्वय तो अपना अर्थ नहीं कहते। इसपर मीमांसक कह रहे हैं कि जैसे लोकमें बोले जाने वाले पद अपना अर्थ स्वयं बता देते हैं, उनकी प्रसिद्धि है जिन अर्थोंमें वे ही अर्थ तो उन पदोंके हैं। जैसे आग पानी आदिक यहां बोलते हैं और उन शब्दोंसे वह अर्थ समझ लेते हैं तो वे ही शब्द तो वैदिक पदोंमें हैं. अतः जैसे जिन्होंने कभी किसी काव्य साहित्यको नहीं देखा वे विद्वान भी देखकर पढ़ कर तुरन्त अर्थ लगा देते हैं। इसी तरह जिन्होंने श्रुतिवाक्य कभी नहीं सुना और वे जब सुनते हैं तो शीघ्र ही वे अर्थ लगा लेते हैं। तो अब वह वेदवाक्य भी अपने अर्थ का स्वयं ही अन्य अर्थका परिहार करके प्रतिपादन करता है।

श्रुतिमें अर्थप्रतिपादकताके पक्षका समाधान—उक्त आशंकापर उत्तर देते हैं कि परीक्षा करनेपर यह कथन भी संगत नहीं बैठता क्योंकि जितनी भी श्रुतियाँ हैं, सब श्रुतियोंमें उस प्रकारके अर्थके प्रतिपादनकी अविशेषता है। कोई वाक्य बोला तो नियोगवादी उसमेंसे नियोग अर्थ बनाता है, भावनावादी भावना अर्थ बनाता है, स्वरूपवादी स्वरूप अर्थ बनाता है। तो जब सभी अर्थ बन रहे हैं और सबके लिए वह श्रुति समान है तो अर्थ असलमें क्या है ? यह तो जाहिर न हो सका। अगर श्रुतिवाक्य ही अपना अर्थ कहता तो सुनने वाले लोगोंको तो श्रुति समान है, वही अर्थ सबके ज्ञानमें होता किन्तु ऐसा नहीं है। श्रुतिके अर्थमें लोगोंको विसम्वाद है, इस कारण श्रुति अपने अर्थका स्वयं प्रतिपादन नहीं करते, यह बात बिल्कुल युक्तिसंगत है। देखिये ! श्रुतिका भाव ही अर्थ है अथवा नियोग ही अर्थ है, यह व्यवस्था नहीं की जा सकती। जैसे कि लोकवाक्यका भी भावना ही अर्थ है या नियोग ही अर्थ है, यह बात निश्चित् नहीं की जा सकती। नियोगका अर्थ है कि मैं इस काममें लगाया गया हूँ, ऐसा नियोजन और भावनाका अर्थ है, उस शब्दको सुनकर आत्मामें व्यापार होने लगे। तो यह बात तो लौकिक वाक्यके सुननेमे भी हुआ करती है। जैसे किसीने कहा कि वह पानी लावे ! तो सुनने वाला यह भाव, यह अर्थ कर सकता है कि मैं इस वाक्यके द्वारा पानी लाये जानेके काममें नियुक्त हुआ हूँ। यह बन गया इस लौकिक वाक्यका नियोग अर्थ और कोई उस अर्थको सुनकर आत्मामें उस तरहका यत्न करे तो उसने भावना अर्थ लगाया तो वहाँ भी भावना ही अर्थ है या नियोग ही अर्थ है ? यह बात नहीं ठहर सकती, ऐसे ही वैदिक वाक्यका भी भावना ही अर्थ है

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

या नियोग ही अर्थ है, यह बात नहीं ठहरा सकते और न ही सत्तामात्र विधि ही अर्थ है किसी वाक्यका याने ब्रह्मस्वरूप ही अर्थ है यह भी नहीं ठहरा सकते। तो जब श्रुतिके उन तीन चार अर्थोंमेंसे किसी एक अर्थमें प्रतिष्ठा नहीं कर सकते कि इस वाक्यका यह ही अर्थ है, और अर्थ नहीं है, यह अन्य–योग व्यवच्छेद न हो सका अर्थात् अन्य अर्थका निषेध करके किसी एक अर्थको प्रतिष्ठित करना यह बात तो न बन सकी, क्योंकि उन सर्व श्रुतियोंमें उनके समस्त अर्थोंमें अनेक प्रकारकी बाधायें आती हैं जैसा कि इस प्रकरणमें बहुत बार वर्णन किया जा चुका है। तो इससे यह सिद्ध है कि जैसे सुगत आदिक परस्पर विरुद्ध वाक्य बोलनेके कारण प्रमाण नहीं है इसी प्रकार श्रुति भी, आगम भी, परस्परविरुद्ध अर्थको बतानेके कारण प्रमाण नहीं है यह बात सिद्ध होती है। और, फिर इस कारिकाका जैसे अर्थ लगाया गया कि तीर्थ करने वालेके सिद्धान्तमें परस्पर विरोध आता है अतः उन सबकी आप्तता नहीं है। इसी प्रकार यह अर्थ भी घटित होता है कि तीर्थका विनाश करने वाले सम्प्रदायोंमें भी परस्पर विरोध होनेसे उन सबकी भी आप्तता प्रमाणमें नहीं आ सकती।

Report any errors at vikasnd@gmail.com